टैगोर का साहित्य-दर्शन

टैगोर का साहित्य-दर्शन

अनुवादक

राधेश्याम पुरोहित
(शांति निकेतन)

१९५६
साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

साहित्य का परिचय

साहित्य में वास्तव

कवि यदि एक वेदनामय चैतन्य लेकर जन्मे हों, यदि उन्होंने अपनी प्रकृति से विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृति की आत्मीयता सिद्ध करली हो, तो वे निखिल के बारे में जो अनुभव करेंगे उसकी वास्तविकता के बारे में उनके मन में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

'लोग कुछ भी ठीक तरह से नहीं कर रहे हैं, जैसा होना चाहिये वैसा कुछ नहीं हो रहा हैं, आजकल वक्त ही खराब है'—ऐसी दुश्चिन्ता प्रकट करके भी आदमी आराम से नहीं रहता। इससे उसके खाने-पीने या निद्रा में किसी भी प्रकार का व्याघात नहीं पहुँचता, यह भी प्रायः देखा जाता है। दुश्चिन्ता की आग शीत की अग्नि की तरह उपादेय होती है, नजदीक रह कर भी तन का स्पर्श नहीं करती।

अतः यदि कोई इस तरह कहता कि आज कल कविगण जो साहित्य-सृष्टि कर रहे हैं, उसमें वास्तविकता नहीं है, वह जन-साधारण के उपयुक्त नहीं है, उससे लोक-शिक्षा का काम नहीं चल सकता, तो सम्भवतः मैं भी देश की दशा के बारे में उद्वेग प्रकाश करके कहता: बात तो ठीक है, और अपने को इस दल से बाहर निकाल लेता।

किन्तु, मेरे ही नाम पर यदि ऐसी बातों का प्रयोग किया जाय तो उससे दूसरे लोग चाहे जितने ही आनन्दित हों, मैं उस आनन्द में पूर्ण रूप से योग नहीं दे सकूँगा। किन्तु ससुराल में वर और पाठक-सभा में लेखक की प्रायः एक ही दशा होती है। दोनों को अपने कानों से बहुत

से कठिन कौतुक सुनने पड़ते हैं और उन्हें चुपचाप हजम भी कर लेना पड़ता है। सहन इसलिये करते हैं कि एक जगह उनकी जीत होती है। चाहे कोई कितना ही पीड़न करे, किन्तु जो वर है उसकी बहू को कोई हरण नहीं करेगा, और जो लेखक है उसकी रचना तो सुरक्षित ही रहेगी।

अतः अपने बारे में कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु इस अवकाश में साहित्य पर कुछ कहा जा सकता है, जो नितान्त अप्रासङ्गिक नहीं होगा। क्योंकि यद्यपि सबसे पहले मेरे लेख को ही 'सेशन' को सौंपा गया है, फिर भी खबर मिली है कि आजकल सभी लेखकों का यही अपराध है।

वास्तवता का न रहना निसन्देह ही एक बहुत बड़ा धोखा है। वस्तु कुछ भी नहीं मिली किन्तु दाम देकर हँसते हुए चला गया, इस प्रकार के हत्बुद्धि आदमी के लिये चतुर अभिभावक नियुक्त होना चाहिये। वही आदमी अभिभावक के लिये उपयुक्त होगा जिसे कवि अपने कला-कौशल से ठग न सके, कटाक्ष के द्वारा ही जो यह समझ सके कि वस्तु कहाँ है और कहाँ नहीं है। अतः जो लोग अवास्तव साहित्य के बारे में लोगों को सावधान कर रहे हैं, वे नाबालिग और नालायक पाठकों के लिय कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स खोलने की व्यवस्था कर रहे हैं।

किन्तु समालोचक चाहे जितने विचक्षण व्यक्ति हों, हमेशा ही वे लोग पाठकों को गोद मे बैठा कर सम्भालेंगे। यह तो और धूत धात्री किसी के लिये भी ठीक नहीं है। पाठकों को स्पष्ट करके समझा देना होगा कि कौन-सी वस्तु है और कौन-सी वस्तु नहीं है।

किन्तु मुश्किल यह है कि वस्तु एक नहीं है, और सब जगह हम एक ही वस्तु को तत्त्व नहीं कहते हैं। मनुष्य की बहुधा प्रकृति, और उसके प्रयोजन भी, बहुत से हैं और उसे अद्य् वस्तु के सन्धान में रहना पड़ता है।

अब सवाल यह है कि साहित्य में हम कौन-सी वस्तु को ढूंढ़ते हैं। उस्ताद लोग कहा करते हैं, हम रस-वस्तु को ढूंढ़ते हैं। कहना निष्प्रयो-

जन है कि यहाँ हम रस साहित्य के बारे में ही कह रहे हैं। यह रस ऐसी चीज है जिसकी वास्तवता के बारे में तर्क उठने पर हाथापाई की नौबत आ जाती है और एक अथवा दोनों पक्ष भी यदि भूमिसात हो जाएं तो भी कोई मीमांसा नहीं होती।

रस रसिक की अपेक्षा करता है, केवल मात्र अपने बल पर वह अपने को सप्रमाण नहीं कर सकता। पृथ्वी पर विद्वान्, बुद्धिमान, देश-हितैषी, लोकहितैषी प्रभृति नाना प्रकार के अच्छे आदमी हैं, किन्तु दमयन्ती ने जिस तरह सारे देवताओं को छोड़ कर नल के गले में माला पहनायी थी उसी प्रकार रस-भारती भी स्वयम्बर-सभा में सभी को छोड़ कर केवल रसिक का ही सन्धान किया करती है।

समालोचक छाती चौड़ी कर, ताल ठोक कर कहते हैं: 'मैं ही वह रसिक हूं।' प्रतिवाद करने की हिम्मत तो नहीं होती, किन्तु अरसिक अपने को अरसिक के रूप में पहचान पाया हो, दुनिया में कहीं ऐसी घटना नहीं देखी गई। मुझे क्या अच्छा लगा और क्या अच्छा नहीं लगा, यही रस-परीक्षा का सर्वशेष निर्णय है, अधिकांश लोगों की यही धारणा है। इसी लिये साहित्य-समालोचना में विनय नहीं है। मूलधन न रहते हुए भी गुटबन्दी में जाने के लिये किसी को झिझक नहीं होती, उसी तरह साहित्य-समालोचना में भी किसी प्रकार की पूंजी की जरूरत नहीं होती। क्योंकि समालोचक का पद सम्पूर्ण सुरक्षित है।

साहित्य की परख करना यदि इतना कठिन है तो जो लोग साहित्य पर रचना करते हैं उनके पास कौनसा उपाय रह जाता है। मुझे तो कोई उपाय नहीं दीखता। यदि वे निश्चित फल जानना चाहते हैं तो इस भार को अपने प्रपौत्रों को ही सौंपना पड़ेगा।

रस-विचार में व्यक्तिगत और कालगत भूल का संशोधन करके जब बहु व्यक्ति और दीर्घ समय के भीतर विचार्य वस्तु बह जाती है, तब सन्देह मिटता है।

किसी कवि की रचना में साहित्य-वस्तु है कि नहीं इसके समझदार

सम-सामयिक कवि अवश्य मिलेंगें, किन्तु एकमात्र वे ही उपयुक्त हैं, इस प्रकार का अन्तिम निर्णय आरोपित करने में भूल होना असम्भव नहीं।

ऐसी अवस्था में लेखक की एक सुविधा यह होती है कि उसकी रचना को जो लोग चाहते हैं वे ही समझदार हैं, ऐसा सोच लेना अनुचित नहीं होता। दूसरे पक्ष को यदि वे नहीं चाहते तो ऐसी कोई अदालत नहीं है जहाँ कि उनके विरुद्ध मामला पेश किया जा सकता है। किन्तु यह अवश्य है कि काल की अदालत में इसका विचार चलता रहता है। यहाँ कवि की ही जीत होती है, कारण अभी तो उसी का ही अधिकार है। काल का प्यादा जिस दिन उसकी ख्याति-सीमा की खूटियां उखाड़ने आयेगा तो उस दिन समालोचक के उस तमाशे को देखने की अपेक्षा नहीं रहेगी।

जो लोग आधुनिक साहित्य में वास्तवता को ढूंढ़ कर हताश हो गये हैं, वे लोग मेरी बातों के जवाब में कहेंगे: 'तराजू पर चढ़ा कर रस-वस्तु का परिमाण नहीं किया जा सकता, यह सत्य है, किन्तु रस-पदार्थ किसी एक वस्तु का आश्रय लेकर ही तो अपने को प्रकाश करता है। वहीं हमें वास्तवता का विचार करने का मौका मिलता है।'

यह तो निश्चित है कि रस का एक आधार है और वह मापदण्ड के आधीन भी है। किन्तु उसी वस्तु को तोल कर क्या साहित्य का मूल्य ठीक होता है ?

रस में एक नित्यता होती है। प्राचीन काल में मनुष्य ने जिस रस का उपभोग किया था आज भी वह है। किन्तु वस्तु की दर बाजार-दर की तरह बदलती रहती है।

अच्छा, सोचा जाय कि कविता को वास्तव करने की इच्छा को अब में किसी तरह से नहीं दबा पा रहा हूं। में ढूंढ़ने लगा कि आजकल देश में कौनसी घटना सबसे अधिक वास्तव हो उठी है। देखा, ब्राह्मण-सभा समाज में रेलवे-सिगनल के स्तम्भ की तरह आंखें लाल करके एक पैर का सहारा लेकर बहुत ऊंचे स्थान पर है। कायस्थ सोम

जनेऊ लेंगे तो ब्राह्मण सभा उनका जनेऊ छीनेगी ही, यही घटना समाज में सबसे बड़ी है। अतः कवियों ने इसे यदि अपनी रचना में स्थान नहीं दिया तो समझना होगा कि वास्तवता के बारे में उनकी धारणा क्षीण है। यह सोच कर मैंने लिखा: 'जनेऊ-संहार-काव्य'। इसका वस्तु-पिण्ड तौल में कम नहीं हुआ, किन्तु हाय रे, सरस्वती ने अपना आसन वस्तुपिण्ड पर रखा है या पद्म पर!

इस दृष्टान्त के देने का एक कारण है। विचारकों के मतानुसार वास्तवता क्या है, यह मैं थोड़ा-बहुत समझ चुका हूं। मेरे विरुद्ध एक फरियादी ने कहा है कि मेरी सारी रचनाओं में वास्तवता का उपकरण यदि कहीं एकत्र हुआ है तो 'गोरा' उपन्यास में।

गोरा उपन्यास में कौन-सी वस्तु है या नहीं है, यह उस उपन्यास का लेखक भी थोड़ा बहुत जानता है। लोगों के मुंह से सुना, प्रचिलित हिन्दुत्व की बहुत अच्छी व्याख्या इसमें की गई है। इसी से अन्दाज किया है कि वही वास्तवता का एक लक्षण है।

वर्त्तमान में कई कारणों से हिन्दू अपने हिन्दुत्व को लेकर भीषण रूप से प्रतिक्रियाशील हो उठे हैं। इस विषय में उनके मनकी अवस्था सरल नहीं है। विश्व-रचना में यह हिन्दुत्व ही विधाता के हाथ की प्रधान सृष्टि है और इसकी सृष्टि में विधाता ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। यही हम लोगों का नारा है। साहित्य में वास्तवता को जब तोला जाता है तो यह नारा ही बटखरे का काम करता है। कालिदास को हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि उनके काव्य में हिन्दुत्व है। बंकिमचन्द्र को हम अच्छा कहते हैं, क्योंकि पति के प्रति हिन्दु रमणी का जो रूप हिन्दू-शास्त्र सम्मत है, वह उनकी नायिकाओं में मिलता है।

दूसरे देशों में भी ऐसा होता है। इंग्लेंड में जब इम्पीरियलिज्म का बुखार हर घण्टे बढ़ रहा था तो एक दल के अंगरेज कवियों के काव्य मेंयह रस वर्ण-वास्तवता प्रलाप कर रही थी।

उसके साथ यदि तुलना की जाय तो वर्डसवर्थ की कविता में वास्तवता कहाँ है ? उन्होंने विश्व-प्रकृति में जो आनन्द देखा था उस आनन्द से ब्रिटिश जन-साधारण की शिक्षा और आचार-व्यवहार का योग क्या कहीं था ? उनके भावों की रागिनी निर्जनवासी अकेले कवि के चित्त मेंवंशी बजा रही थी ।

कीट्स और शैली, इनके काव्यों की वास्तवता का किसके द्वारा निर्णय किया जाय ? अङ्गरेजों के जातीय सुर के साथ मिला कर क्या इन्होंने बख्शीश ली थी ? जो समालोचक साहित्य के बाजार में वास्तवता की दलाली किया करते हैं उन्होंने वर्ड्सवर्थ की कविताओं का कैसा आदर किया था यह सब जग-विदित है । शैली को अस्पृश्य अन्त्यज की तरह समझ कर देश-त्याग का कठोर दण्ड दिया गया था और कीट्स को मृत्यु-बाण मारा गया था ।

और भी आधुनिक दृष्टान्त, टेनिसन् । ये विक्टोरियन युग के प्रचलित लोक-धर्म के कवि थे । तभी इनका प्रभाव देश में सर्वत्र था । किन्तु विक्टोरियन युग की वास्तवता जितनी क्षीण होती जा रही है, टेनिसन् का आसन भी उतना ही संकीर्ण होता जा रहा है ।

आधुनिक लेखकों का प्रधान अपराध यह है कि उन्होंने अंग्रेजी पढ़ ली है । अंग्रेजी शिक्षा हमारे लिये 'वास्तव' नहीं है । इसलिए वह वास्तविकता का कारण नहीं हो सकती । और यही कारण है कि आज का साहित्य साधारण लोगों को शिक्षा और आनन्द नहीं दे सकता ।

ठीक है । किन्तु देश के जो लोग अंग्रेजी नहीं पढ़े हुए हैं, उनकी तुलना में तो हम, आधुनिक लेखक, बहुत ही थोड़े हैं । उनकी कलम तो किसी ने हरण नहीं की है । हम केवल अपनी अवास्तविकता के कारण देश के सारे वास्तविकों को हटा देंगे, यह तो स्वभाविक नियम नहीं है ।

संभव हो कि कुछ लोग कहें: 'आप लोग हार रहे हैं । जिन लोगों

ने अंग्रेजी नहीं पढ़ी है, वे ही देश का वास्तव साहित्य बना रहे हैं और यह साहित्य ही स्थायी रूप से रहेगा।'

यदि ऐसा ही हो तो फिर चिन्ता किस बात की है ? वास्तव-साहित्य का विपुल क्षेत्र सारे देश में फैला हुआ है, उसमें यदि थोड़ा-सा अवास्तव-साहित्य रह जाता है तो वह क्षण-स्थायी होगा।

किन्तु उस वास्तव-साहित्य के दर्शन मिलें तब न ! उसे देखकर एक आदर्श सोचा जा सकता है। जब तक उसके असली परिचय को हम जान नहीं लेंगे तब तक यदि जबर्दस्ती उसे मानना पड़े तो वह वास्तव नहीं होगा। वह साहित्य काल्पनिक होगा।

और, इधर अंग्रेजी पढ़े लोगों ने जो साहित्य-सृष्टि की, वह क्रोध में गाली देने पर भी दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। निन्दा करके भी उसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते। यही वास्तव के लक्षण हैं। अंग्रेजी शिक्षा ने हमारे भीतर के 'वास्तव' को जगा दिया है। इस वास्तव से जो लोग डरते हैं, जो लोग बंधे हुए नियमों को ही श्रेय मानते हैं, वे चाहे अंग्रेज हों चाहे बंगाली, वे इस शिक्षा को भ्रम और इस जागरण को अवास्तव कह कर उड़ा देने का ढोंग रचते हैं। उनका तर्क यह है कि एक देश का आघात दूसरे देश को सचेत नहीं कर सकता। किन्तु दूर देशों की दक्षिण-हवा ने देशान्तर के साहित्य-कुंज में फूल खिलाये हैं, इतिहास में इसका प्रमाण मिलता है। वहाँ से जैसे भी हो, जीवन के आघात से दूसरा जीवन जाग उठता है, मानव के चित्त-तत्व में यह एक वास्तव घटना है।

किन्तु लोक-शिक्षा का क्या होगा ?

इस बात का उत्तर साहित्य नहीं देगा। लोग यदि साहित्य से शिक्षा लेने की कोशिश करें तो ले भी सकते हैं। किन्तु साहित्य लोगों को शिक्षा देने के बारे में कोई चिन्ता नहीं करता। किसी भी देश में साहित्य ने स्कूल-मास्टरी का भार नहीं लिया है। रामायण-महाभारत देश के सभी आदमी पढ़ते हैं, इसका यह कारण नहीं है कि ये ग्रन्थ

कृपक की भाषा में लिखे गये हैं या गरीब दुखियों की कहानी हैं। उनमें बड़े-बड़े राजा, बड़े-बड़े राक्षस, बड़े-बड़े वीर और बड़े-बड़े वानरों की बड़ी-बड़ी पूँछों की बातें हैं। शुरू से लेकर अन्त तक सारी कहानी ही असाधारण है। साधारण लोग अपनी गरज से इस साहित्य को पढ़ना सीखे हैं।

साधारण लोग मेघदूत, कुमारसंभव, शकुन्तला नहीं पढ़ते। संभव हो दिए नागाचार्य ने इन पुस्तकों में 'वास्तव' का अभाव देखा था। मेघदूत की तो बात ही दूसरी है। कालिदास स्वयं इन वास्तववादियों के डर से एक स्थान पर नितान्त अकविजनोचित कैफियत देने के लिए बाध्य हुए थे—"कामार्ता हि प्रकृति कृपषाश्चेत—नाचेतनेषु।"

मैं अकविजनोचित इसलिये कह रहा हूँ कि कवि मात्र ही चेतन-अचेतन में मेल रखते हैं। कारण, वे विश्वमित्र हैं। वे न्याय के अध्यापक नहीं हैं, शकुन्तला का चौथा अंक पढ़ने पर ही यह समझा जा सकता है।

किन्तु मैं यह कह रहा हूँ कि यदि कालिदास का काव्य अच्छा है तो वह सारे मनुष्यों के लिए और भविष्य के भंडार में भी संचित रहेगा। आज के साधारण लोगों ने जिसे नहीं समझा, आगामी काल के साधारण लोग उसे शायद समझें, यह आशा करता हूँ। किन्तु, कालिदास यदि कवि न होकर लोकहितैषी होते तो उस पाँचवीं शताब्दी में उज्जयिनी के कृषकों के लिए प्राथमिक शिक्षा की कुछ किताबें लिखते—तो उसके बाद की इतनी शताब्दियों का क्या हाल होता ?

क्या आप सोचते हैं कि लोकहितैषी तब कोई नहीं था ? लोगों की उन्नति तब कैसे हो ऐसी चिन्ता करके क्या किसी ने भी कोई पुस्तक नहीं लिखी ? किन्तु क्या वह साहित्य है ? स्कूल की पढ़ाई के बाद पुरानी किताबों की जो दशा होती है, उनकी भी वही दशा हुई होगी।

जो उत्तम है उसे पाने के लिए साधना करनी पड़ती है। यह साधना राजा के लड़के को भी करनी होगी, कृषक के लड़के को भी। राजा के लड़के की सुविधा यह है कि उसके पास साधना करने का वक्त रहता है, कृषक के पास नहीं रहता। किन्तु यह सामाजिक व्यवस्था का तर्क है—यदि प्रतिकार कर सकें, कीजिये—किसी को भी आपत्ति नहीं होगी। तानसेन इसके लिए मीठे सुर की तैयारी करने नहीं बैठेंगे। उनकी सृष्टि, सृष्टि के आनन्द के भीतर से होगी, उसमें और कोई उद्देश्य न होगा। जो लोग रस-पिपासु हैं, वे यत्नपूर्वक शिक्षा लेकर उन ध्रुपदों के मधु-कोष में पैठने की कोशिश करेंगे। किन्तु साधारण लोग जब तक उन मधुकोषों का रास्ता नहीं जानते तब तक तानसेन का गीत उनके लिए 'अवास्तव' की श्रेणी में रहेगा। तभी कह रहा था कि कहाँ किस वस्तु को ढूंढना होगा, कैसे ढूंढना होगा, कौन ढूंढेगा ; यह सब तो अपने ऊपर निर्भर करता है।

किन्तु कवियों का क्या अवलम्बन है ? किसी वस्तु पर वे जरूर टिक कर खड़े हैं। वह है अन्तर की अनुभूति और आत्मप्रसाद। कवि यदि एक वेदनामय चैतन्य लेकर जन्मे हों, यदि उन्होंने अपनी प्रकृति से विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृति से आत्मीयता करली हो, तो वे निखिल के बारे में जो अनुभव करेंगे उसकी वास्तवता के बारे में उनके मन में कोई सन्देह नहीं रहेगा। विश्ववस्तु, और विश्वरस को एकदम अव्यवहित भाव से उन्होंने अपने जीवन में अनुभव किया है, यही उनका जोर है। कवि यह जानता है कि जो उनके पास सत्य है, वह कहीं असत्य नहीं हो सकता। यदि वह किसी के पास मिथ्या है तो वह मिथ्या ही मिथ्या है। जिस आदमी ने आँखें बन्द कर रखी हैं, उसके पास आलोक जैसे मिथ्या है, यह भी उसी प्रकार मिथ्या है। काव्य की वास्तवता के बारे में कवि स्वयं अपने भीतर जिस प्रमाण को जानता है, विश्व में भी वही प्रमाण रहता है। उस प्रमाण की अनुभूति प्रत्येक को नहीं है। अतः विचारक के आसन पर बैठ कर चाहे जो राय दें, किन्तु डिग्री

जारी करने के वक्त यह राय कहाँ तक काम आयेगी, यह सोचने की बात है।

कवि की आत्मानुभूति के जिस उपादान की बात मैंने अभी कही, वह प्रत्येक कवि में समान रूप में रहती हो, ऐसी बात नहीं है। यह नाना कारण से कभी आवृत होती है, कभी विकृत होती है। नगद मूल्य के प्रलोभन से कभी-कभी उस पर बाजार में प्रचलित आदर्श की नकली छाप भी लगा दी जाती है। इसलिए उसके सारे अंशों का समान रूप से आदर नहीं हो सकता। किन्तु, कवि के काव्य का विचार होता है। उसके काव्य को जो पढ़ता है, वही विचार करता है। इस विचार में सभी एकमत नहीं होंगे। किन्तु यदि कवि आत्मप्रसाद पा चुका है तो अपना प्राप्य हाथों-हाथ ले लेगा। किन्तु प्राप्य से ऊपर की आशा का अधिक लोभ रहता है। इसीलिए छिपा कर हाथ फैलाना पड़ता है। यहीं खतरा है। कारण-लोभ से पाप और पाप से मृत्यु पड़ती है।

कवि की कैफियत

हम जिसे जीवन-लीला कहते हैं, पश्चिम समुद्र के उस पार के लोग उसे ही जीवन-संग्राम कहते हैं।

इसमें कोई नुकसान नहीं है। एक काव्य को मैं यदि कहूँ रामायण और तुम कहते हो कि नहीं, यह तो राम-रावण का युद्ध है, तो इसे लेकर अदालत की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु मुश्किल की बात तो यह है कि इसे व्यवहार करते हुए हमें शर्म आती है। जीवन तो केवल लीला है! यह सुनकर दुनियां के सारे पहलवान, जो केवल ताल ठोक रहे हैं, कहाँ जायेंगे?

मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि इसमें मुझे लज्जा की कोई बात नहीं दीखती है। यह सुनकर मेरा अंग्रेजी मास्टर सबसे बड़ा शब्द बेधी वाण मुझे मार सकता है—'अरे तुम तो पूरे 'ओरियन्टल' हो।' किन्तु उससे मैं मरूँगा नहीं।

'लीला' कहने पर सारी बात कही गई और 'लड़ाई' कहने पर आदि और अन्त बाद चले गये। इस लड़ाई का आरम्भ कहाँ और शेष कहाँ? भाँगखोर विधाता की भाँग का प्रसाद लेकर सहसा हम ऐसे मत्त क्यों हो गये? क्यों भाई, फिजूल की लड़ाई किस लिये कर रहे हो?

जीवित रहने के लिये।

मुझे जीने की क्या आवश्यकता है?

जीवित नहीं रहेगा तो मर जायेगा।

यदि मर ही गये तो ?

मरना तो चाहते नहीं।

क्यों नहीं चाहते ?

चाहते नहीं, इसीलिये।

इस जवाब को संक्षिप्त में 'लीला' कहा जा सकता है। जीवन में जीवित रहने की यह एक अहेतुक इच्छा है। यह इच्छा ही अन्तिम है। इसके कारण हम लड़ते हैं, दुःख को स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु यह सब क्यों होता है ? जीवन अथवा यह जगत लीला मात्र है, यह सुन कर लोग अपने कामों में ढिलाई कर देंगे।

इस बात पर ही यदि मनुष्य का काम करना और न करना निर्भर करता है तो शुरू में ही जिन्होंने विश्व की सृष्टि की है, उनका मुँह बन्द कर देना पड़ेगा। साधारण कवि पर नाराज होने में क्या बहादुरी है ? खुद सृष्टि-कर्त्ता क्या कहते हैं ?

वे चाहे जो कहें, लड़ाई की बात जहाँ तक होगी, वे दबा कर रखेंगे। मनुष्य का विज्ञान कहता है, जगत के अणु-परमाणु तक आपस में लड़ रहे हैं। किन्तु हम लोग युद्ध-क्षेत्र की ओर देखते हैं तो देख पाते हैं कि युद्ध का कारण फूल के रूप में खिलता है, आकाश में नक्षत्र के रूप में प्रकाशित होता है, नदी के रूप में चलता है बादल के रूप में उड़ता है। समग्र को जब समग्र के रूप में देखते हैं तो भूमि के क्षेत्र में सुर-से-सुर मिला हुआ, रेखा-से-रेखा मिली हुई, रंग-से-रंग का योग देख पाते हैं। विज्ञान उस समग्र से विच्छिन्न करके केवल दला-दली, ठेला-ठेली और हाना-हानि ही देख पाता है। वह अविच्छिन्न सत्य-विज्ञान का सत्य हो सकता है किन्तु वह कवि का सत्य नही हो सकता, कविगुरु का भी नहीं।

अन्य कवियों की बात रहने दीजिये, आप अपनी बात कहिये।

अच्छी बात है। तुम लोगों की नालिश यह है कि खेल, छुट्टी का आनन्द, यह सब मेरे काव्य में बार-बार आये हैं। यह बात यदि सत्य है तो समझना पड़ेगा, मुझ में किसी सत्य का उदय हुआ है।

उसकी आड़ लेकर मैं अब नहीं चल सकूँगा। अतः अब मैं विधाता की तरह निलंज्ज होकर एक ही बात को हजार बार कहूँगा। यदि मुझे बना कर बोलना पड़ता, तो प्रत्येक बार नई बात न कहने पर लज्जा होती। किन्तु सत्य को लज्जा नहीं, डर नहीं, चिंता नहीं। वह अपने को प्रकाशित करता है। अपने को प्रकाश करने के सिवाय उसका और कोई रास्ता नहीं है, इसीलिये वह बेपरवाह है।

इसीलिये आपकी वाणी अहंकार युक्त लगती है?

सत्य की दुहाई लेकर यदि निन्दा करने में दोष नहीं है तो अहंकार करने में भी दोष नहीं है। अतः हमने आपसी फैसला कर लिया है।

फालतू बात! जिसे लेकर तर्क उठा था वह—वह यह ह कि जगत की शक्ति की लड़ाई को प्रधान करके देखना, अविच्छिन्न रूप में देखना है—अर्थात् गाना बाद देकर सुर की कसरत देखना है; आनन्द को देखना ही सम्पूर्ण देखना है। यह बात हमारे देश की सबसे बड़ी बात है। उपनिषद् की प्रधान बात यह है कि आनन्दाद्वेयव खल्विमानि भतानि गायन्ते, आनन्दन जातानि जीवन्ति आनन्दम् सम्प्रयन्त-भिसंविशन्ति। आनन्द से ही सब उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, और आनन्द की ओर ही सब चलते हैं।

यही यदि उपनिपद की अन्तिम वाणी है तो क्या ऋषि कहना चाहते हैं कि जगत में पाप, दुख नहीं है? हम तो यहीं पर अधिक ध्यान देते हैं, नहीं तो मनुष्य को चेतना होगी कहाँ से।

उपनिषद मे इसका उत्तर है कोह्येवान्यात् कः प्रायणात् य देष आकाश मादन्दो न स्यात्। कौन शरीर की चेष्टा करता (अर्थात् कौन दुख-धन्धा लेश म त्र भी स्वीकार करता) यदि आनन्द सारे आकाश में नहीं भरा रहता।

अर्थात् आनन्द को ही अन्तिम सत्य जान कर लोग दुःखद्वन्द सहन कर सकते हैं। सिर्फ यही नहीं, दुःख का परिणाम ही आनन्द का परिणाम है। हम प्रेम को उतना ही सत्य मानते हैं जितना वह दुःख

सहन करता है। अतः दुःख तो है ही, किन्तु उसके ऊपर आनन्द है तभी वह टिका है। नहीं तो कुछ नहीं रहता, विवाद भी नहीं। तुम लोग जब दुःख को स्वीकार कर लेते हो तो आनन्द को बाद दे देते हो, किन्तु आनन्द को स्वीकार कर लेने के बाद दुःख को बाद नहीं देना पड़ता। अतः तुम लोग जब कहते हो कि संघर्ष करते-करते जो अवशेष रहा, वही सृष्टि है तो यह एक हवाइ बात हुई, अंग्रेजी में जिसे कहते हैं 'ऐब्स्ट्रैक्शन;' और आनन्द से ही सब कुछ हो रहा है तथा उसी से सब कुछ स्थिर है, यही सम्पूर्ण सत्य है।

अच्छा, आपकी बात ही मान लेता हूं, किन्तु यह तो तत्वज्ञान की बात हुई। वास्तविक क्षेत्र में इसका क्या मोल ?

इसका जवाब कवि न देगा और न वैज्ञानिक ही। किन्तु आज-कल जैसा समय आया है, उस में कवियों को भी दुनियादारी का हिसाब रखना पड़ता है। हमारे देश में अलंकार शास्त्र के रस को हमेशा अहेतुक अनिर्वचनीय कहा गया है। इस लिये जो रस के कारबारी हैं, उन्हें यहाँ प्रयोजन-हाट में महसूल नहीं देना पड़ता। किन्तु सुनता हूं कि पश्चिम में कोई-कोई नामी व्यक्ति रस को ही काव्य की चरम वस्तु मानने को तैयार नहीं हैं। इसलिये कहीं भी अनिर्वचनीयता की दुहाई देने पर आजकल हमारे देश में भी लोग प्राचीन और 'ओरियन्टल' कह कर निन्दा कर सकते हैं। वह निन्दा असह्य नहीं, किन्तु काम के आदमी को जहाँ तक हो सके सुखी रखा जाय तो ही अच्छा है। यद्यपि मैं सिर्फ कवि मात्र हूं, तो भी इस विषय पर मेरी समझ में जो आता है उसे जरा शुरू से कहना चाहता हूं।

जगत में सत्, चित् और आनन्द के प्रकाश को हम ज्ञान की 'लैबोरेटरी' में विश्लिष्ट करके देख सकते हैं, किन्तु ये एक-दूसरे से विभिन्न नहीं हैं। वृक्ष काष्ट वस्तु मात्र नहीं है, उसकी रस-ग्रहण करने की शक्ति और प्राण भी काष्ट नहीं है। वस्तु और शक्ति की एक समग्रता के भीतर जो एक अखण्ड प्रकाश है, वही वृक्ष है। वह एक

ही समय वस्तुमय, शक्तिमय और सौन्दर्यमय है। वृक्ष इसीलिये आनन्द देता है। इसीलिये वृक्ष विश्व और पृथ्वी का ऐश्वर्य है। वक्ष में छुट्टी के साथ काम का, काम के साथ खेलने का, कोई विच्छेद नहीं है; इसीलिये हरी प्रकृति में चित्त विराम पाता है—विश्राम का पूर्ण रूप दिखाई देता है। वह रूप काम के विरुद्ध नहीं है, वस्तुतः वह काम ही सम्पूर्ण रूप है, वह कर्म का सम्पूर्ण रूप आनन्द रूप है, सौन्दर्य रूप है। वह काम है, किन्तु लीला भी है; कारण काम और विश्राम एक साथ होते हैं।

सृष्टि की समग्रता की धारा मनुष्य के भीतर आकर टूट गयी है। इसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की अपनी एक इच्छा है, जगत की लीला के साथ वह समग्र ताल पर नहीं चलता। विश्व की ताल को वह आज भी सम्पूर्ण रूप से नहीं जान पाया है। इसीलिये वह अपनी सृष्टि को असंख्य खण्डों में विभक्त करके किसी तरह उनकी ताल ठीक कर लेता है। किन्तु इससे पूरे संगीत का रस भग हो जाता है और विभक्त खण्डों की ताल ठीक नहीं रहती।

एक दृष्टान्त, लड़कों की शिक्षा। मानव सन्तान के लिये ऐसा दुःख और नहीं है। पक्षी उड़ना सीखता है, माँ-बाप के स्वर की नकल करके उसे सीखता है, वह उसकी जीवन-लीला का अङ्ग है—विद्या के साथ प्राण और मन की लड़ाई नहीं। यह शिक्षा सम्पूर्ण छुट्टी के दिन की तरह ही है, खेल के भेष में काम रहता है। किन्तु मनुष्य के घर शिशु के रूप में जन्म ग्रहण करना मानो अपराध हो, बीस वर्ष तक दंड मिलेगा। इस विषय पर मैं अधिक तर्क न करके सिर्फ यही कहूंगा कि यह बड़ी भारी भूल है।

असल में मनुष्य की ग़लती यह है कि अधिकांश लोग अपने को ठीक भाव से प्रकाशमान नहीं कर पाते हैं और अपने को पूर्णरूप से प्रकाशमान करने में ही आनन्द मिलता है। माँ जहाँ केवल माँ है, वहाँ उसका काम कितने ही झंझट का हो, उसे आनन्द मिलता है। क्योंकि

पहले ही कह चुका हूं कि आनन्द समग्र दुःख को शिव के विषपान की तरह अनायास आत्मसात् कर सकता है। तभी कार्लाइल ने प्रतिभा को दूसरी ओर से देख कर कहा था, 'असीम दुःख को स्वीकार करने की शक्ति को ही प्रतिभा कहते हैं।'

किन्तु मनुष्य जो करता हैं उसका अधिकांश अपने को प्रकाशमान करने के लिये नहीं करता है। वह या तो अपने मालिक के लिये, या किसी प्रबल पक्ष के लिये, अथवा पेट के लिये, अपने को प्रकाशमान करता है। जबर्दस्ती मनुष्य को दूसरों जसा बनना पड़ता है। चीन की लड़कियों के जूते उनके पैर के लिये नहीं बने हैं, उनके पैर ही जूतों के लिये बने हैं। इसीलिये पैर को कष्ट मिलता है, वे भद्दे हो जाते हैं। किन्तु इस तरह भद्दे होने में एक फायदा है। विधाता ने सबको समान नहीं बनाया है, किन्तु इस तरह सब लोग समान रूप हो सकते हैं। इसलिये यदि तत्त्ववादी नीति सबको समान करना चाहे तो इस प्रकार कृत्रिम साधन अपनाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है।

सभी मनुष्यों को राजा का, समाज का, परिवार का, मालिक का, दासत्व करना पड़ता है: किसी तरह से ऐसा हो गया है। इसीलिये लीला शब्द को हम दाब कर रख देना चाहते हैं। इस तरह दासत्व का मन्त्र हमारे कान में इतना पढ़ा जाता है कि हम एक क्षण के लिये भी सचेत नहीं हो पाते। हमारी आत्मा आत्मगौरव से उज्जवल नहीं हो पाती। नहीं, हम दासत्व की रज्जु से जकड़े हुए नहीं मरना चाहते, हम राजा की तरह जियेंगे और राजा की तरह मरेंगे।

हमारी सबसे बड़ी प्रार्थना यह होगी—'आविराvीर्म एधि।' हे आवि, तुम्हारा परिपूर्ण रूप हमारे भीतर प्रकाशित हो, तुम परिपूर्ण हो, तुम आनन्द हो, तुम्हारा रूप ही आनन्दमय है!

साहित्य

उपनिषदों में स्वरूप को तीन भागों में विभक्त किया गया है : सत्यम्, ज्ञानम् और अनन्तम् । चिरन्तन के ये तीन रूप लेकर मानव-आत्मा के भी निश्चय ही तीन रूप हैं । इनमें एक 'मैं हूँ', दूसरा 'मैं जानता हूँ', और तीसरा 'मैं व्यक्त करता हूं' । अंगरेजी में कहने पर, कहा जा सकता है, I am, I know, I express । मनुष्य के भी ये तीन दिक् हैं और इन तीनों को लेकर ही एक अखण्ड सत्य है । सत्य के ये भाव हमारे नाना कर्मों में नियत उद्यत रहते हैं । जीवित रहना है तभी अन्न चाहिए, वस्त्र चाहिये, वासस्थान चाहिये, स्वास्थ्य चाहिये । सब यही लेकर संग्रह, रक्षक और गठन कार्य होता है । 'मैं हूँ' सत्य का यह भाव हमसे नाना काम करवाता है । और इसके साथ ही है, 'मैं जानता हूं' । इसका महत्व भी कम नहीं है । मनुष्य का ज्ञान-क्षेत्र विपुल है और यह क्षेत्र क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है । इसका मूल्य मनुष्य के पास नितान्त कम नहीं है । इसके साथ मानव-सत्य की और एक दिशा है, 'मैं प्रकाश करता हूं ।' 'मैं हूं', यह ब्रह्म के सत्य स्वरूप के अन्तर्गत है, 'मैं जानता हूं', यह ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप के अन्तर्गत है, 'मैं प्रकाश करता हूं', यह ब्रह्म के अनन्त स्वरूप के अन्तर्गत है ।

'मैं हूं' इस सत्य की रक्षा करना भी जैसे मनुष्य की आत्मरक्षा है, उसी तरह 'मैं जानता हूं' इस सत्य की रक्षा करना भी मनुष्य की आत्म-रक्षा है, क्योंकि मनुष्य का स्वरूप है—ज्ञान-स्वरूप । अतः मनुष्य केवल

मात्र यही जानेगा कि कैसे और कौन से खाद्य द्वारा हमारी पुष्टि होती हैं, तो ठीक नहीं है। उसे अपने ज्ञान स्वरूप के द्वारा रात्रि के समय बार-बार जिज्ञासा करनी पड़ेगी : मंगलग्रह में जो चिह्नजाल है, वह क्या है ? इस तरह जिज्ञासा करते रहने पर संभव है, उसकी दैनन्दिन जीवन-यात्रा पीड़ित हो। इस लिए मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान को उसकी ज्ञानमय प्रकृति के साथ जानना ही ठीक तरह से जानना है।

मैं हूं, मुझे टिक कर रहना है, यह बात जब संकीर्ण सीमा में रहती है तो आत्मरक्षा-वंशरक्षा केवल हमारे अहम् को ही जकड़े रहती है। किन्तु जिस परिणाम में मनुष्य यह कहता है कि दूसरों के रहने में ही मेरा रहना है, उतने ही परिणाम में वह अपने जीवन में अनन्त का परिचय पाता है, उतने ही परिणाम में 'मैं हूं' और 'दूसरे भी हैं' उसका यह व्यवधान दूर हो जाता है। अन्य के साथ इस ऐक्य-बोध के द्वारा जो महात्म्य् आता है, वही आत्मा का ऐश्वर्य है। इसी मिलन-प्रेरणा से मनुष्य अपने को नाना रूप में प्रकाश करता रहता है। जहाँ मनुष्य अकेला है, वहाँ उसका प्रकाश नहीं पड़ता। जीवित रहने की असीमता के बोध को, अर्थात् 'दूसरों के रहने में ही अपना रहना' इस अनुभूति को, मनुष्य किसी तरह की क्षुद्र सीमा में बाँध कर नहीं रख सकता। तब वह महाजीवन के प्रयोजन-साधनार्थ नाना प्रकार की सेवाओं और त्याग में अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है। उस महाजीवन के आनन्द को वह साहित्य में, स्थापत्य में, मूर्त्ति में, चित्रों में, गीतों में, प्रकाश करता है।

पहले ही कह चुका हूं, केवल अपने जीवित रहने में भी ज्ञान की आवश्यकता होती है। किन्तु उस ज्ञान में दीप्ति नहीं है। ज्ञान के राज्य में जहाँ असीम की प्रेरणा रहती है वहाँ मनुष्य की शिक्षा के लिए कितना आयोजन, कितनी पाठशाला, कितने विश्वविद्यालय, कितने वीक्षण, कितने परीक्षण, कितने आविष्कार, कितनी उद्भावना ! वहाँ मनुष्य का ज्ञान सार्वजनीन और सर्वकालीन होकर मानव आत्म के सर्वत्र

प्रवेश करने के अधिकार की घोषणा करता है । इस अधिकार का विचित्र आयोजन विज्ञान में, दर्शन में विस्तृत होता रहता है, किन्तु उसका विशुद्ध आनन्द-रस नाना रचनाओं में और आर्ट में प्रकाशित होता है ।

तो भी एक बात देखी है कि पशुओं की तरह मनुष्य की जीवित रहने की इच्छा प्रबल होती है, पशुओं की तरह मनुष्य का ज्ञान का कुतूहल जिस तरह सचेष्ट रहता है, उसी तरह मनुष्य में एक विशेषता है जो पशुओं में नहीं है । वह है उसका प्रकाश-तत्व ।

प्रकाश एक ऐश्वर्य है । जहाँ मनुष्य दीन है वहाँ प्रकाश नहीं है, वहाँ वह जो लाता है वही खा लेता है । जिसे स्वयं शोषण करके निःशेष नहीं कर पाता हूं उसी के द्वारा ही तो प्रकाश होता है । लोहा गरम होते-होते जब तक दीप्त ताप तक नहीं पहुँचता है तब तक उसका प्रकाश नहीं होता । आलोक ही ताप का ऐश्वर्य है । मनुष्य का जो भाव स्वकीय प्रयोजन से अन्तर्मुक्त नहीं है, जिसके प्राचुर्य को अपने भीतर नहीं रखा जाता, जो स्वभावतः ही दीप्यमान् है, उसी के द्वारा मनुष्य के प्रकाश का उत्सव होता है । रुपये के भीतर यह ऐश्वर्य कहाँ है ? जहाँ वह मेरे एकान्त प्रयोजन के ऊपर है, जहाँ वह मेरी जेब में प्रच्छन्न नहीं है, जहाँ उसकी रश्मि ही मेरे कृष्णवर्ण अहम् के द्वारा सम्पूर्ण शोषित नहीं हो रही है, वहीं उसमें अशेष का आविर्भाव होता है और यह अशेष ही नाना रूपों में प्रकाशमान होता है । उस प्रकाश की प्रकृति यह है कि हम सभी कह सकते हैं, 'यह तो मेरा है ।' वह जब अशेष को स्वीकार कर लेता है तो वह अमुक विशेष व्यक्ति की भोग्यता के मलिन सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है । अशेष के प्रसाद से बंचित उस विशेष भोग्य-दान की बर्बरता से वसुन्धरा पीड़ित है । दैन्य के भार की तरह और भार नहीं है । रुपया जब दैन्य का वाहन होता है तो उसके चक्र के तले न जाने कितने लोग पिस जाते हैं । उस दैन्य का नाम है 'प्रताप' । वह आलोक नहीं है, वह केवलमात्र दाह है । वह जिसका है सिर्फ उसी

का है। इसलिए उसे अनुभव किया जा सकता है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। निखिल के इस स्वीकार को ही कहते हैं प्रकाश।

इस प्रताप की रक्त-पंकिल अशुद्धि को प्रकृति अपनी श्यामल अमृत-धारा से बार-बार पोंछ देती है। फूल सृष्टि के अन्तर से सौंदर्य लाते हैं और प्रताप के कलुषित पदचिह्नों को लज्जा से केवल ढंके ही रहते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'हम छोटे हैं, हम कोमल है, किन्तु हम ही चिरकाल के हैं।' क्योंकि सभी ने हमें वरण कर लिया है—और वह जो उद्यत् मुष्टि विभीषिका, जो पत्थर पर पत्थर रख कर अपने किले को अभ्रभेदी कर रही है, वह कुछ नही है, कारण उसे कोई स्वीकार नहीं कर रहा है—माधवी वितान की सुन्दर छाया ही उससे अधिक सत्य है।

यह जो ताजमहल—ऐसा ताजमहल है, इसका कारण है शाहजहान का हृदय। उसका प्रेम-विरह वेदना के अनन्त को स्पर्श कर चुका था; उन्होंने सिंहासन को जहाँ भी रखा हो, अपने ताजमहल को उन्होंने अपने से मुक्त कर दिया था। वह अब अपना-पराया नहीं है, वह अनन्त की वेदी है। शाहजहान का प्रताप जब दस्युवृत्ति करता है तो उसका लूट का माल चाहे जितना ही प्रभूत हो, उससे उसकी अपनी थैली का भी पेट नहीं भरता, इसलिए क्षुधा के अन्धकार में वह डूब कर लुप्त हो जाता है। और जहाँ परिपूर्णता की उपलब्धि उसके चित्त में आविर्भूत होती है, वहाँ वह उस दैव वाणी को अपने कोषागार में, अपने विशाल साम्राज्य में, कहीं भी पकड़ कर नहीं रख सकता। सर्वजन के हाथों में और नित्यकाल को समर्पण करने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता। इसे ही कहते हैं, प्रकाश। हमारे सारे मंगल अनुष्ठानों में ग्रहण करने के उपयुक्त मन्त्र है—ओऽम्, अर्थात् हां! ताजमहल है वही नित्य उच्चारित ओऽम्—निखिल का वही ग्रहण मन्त्र मूर्त्तिमान है; शाहजहान के सिंहासन पर यह मन्त्र नहीं पढ़ा गया था। एक दिन उसके पास चाहे कितनी ही शक्ति हो—वह शक्ति तो 'ना' होकर न जाने कहाँ चली गई। वैसे ही कितने बड़े-बड़े नामधारी 'ना' के दल में

आज दम्भ से विलुप्ति की ओर जा रहे हैं। उन तोपों से और बन्दियों की शृंखला की झंकार से कान बधिर हो उठे, किन्तु यह मायामात्र है, ये अपनी ही मृत्यु का नैवेद्य लेकर काल-रात्रि के पार काली घाट की यात्रा कर रहे हैं। लेकिन शाहजहान की कन्या जहाँनारा का वह करुण गीत ? उसे हम कहेंगे—ओऽम् ।

किन्तु हम दान करना चाह कर भी क्या दान कर सकते हैं ? यदि कहें, 'तुभ्यमहं सम्प्रददे' तो क्या वरदान हाथ पर आजायेगा। नित्य काल और निखिल विश्व यही कहते हैं—'यदेतत् हृदयं मम'—उसके साथ तुम्हारा सम्प्रदान मिथ्या रहना चाहिये। तुम्हारे अनन्तम् जो देंगे, वही मैं ले सकूँगा। उन्होंने मेघदूत को लिया है, जो उज्जयिनी की विशेष सम्पत्ति नहीं था, जिसे विक्रमादित्य के सिपाही उनके अन्तःपुर की हंस-पादिकाओं के महल में बन्दी नहीं कर सके थे। पण्डितगण इस तर्क पर लड़ते रहे कि वह ईसा के जन्म के पाँच सौ वर्ष पहले रचित हुआ था या पीछे, किन्तु उसके देह पर सर्वकाल की छाप लगी हुई है। पण्डित-गण यह तर्क भी करते रहे कि वह शिप्रातीर पर रचित हुआ था या गंगा तीर पर, किन्तु उसके मन्दाक्रान्त में पूर्व वाहिनी, पश्चिम वाहिनी, सभी नदियों की कल-कल-ध्वनि सुनाई पड़ती है। दूसरी ओर, ऐसी पाँचालियां है, जिनके अनुप्रास की छटा चकमक ठोकने पर स्फुल्लिंग वर्षा की न्याय संभास्य हजारों लोगों को मुग्ध कर देती है। उनकी विशुद्ध स्वदेशिकता पर हम चाहे जितने ही उत्तेजित क्यों न हों, इन पांचालियों का देश और काल सुनिर्दिष्ट है। किन्तु सर्वकाल में उनका वर्णन होते रहने पर, कुलीन की अनूढ़ा कन्या की तरह, वे व्यर्थ के कुल-गौरव को छोड़कर निःसन्तति होकर चली जायेंगी।

तथ्य और सत्य

असीम की वह आकुलता, जो ऋतुओं में बारबार फल और फूलों से पूर्ण होकर भी कभी निःशेष नहीं होती, वह रूपदक्ष की चारूकला में आविर्भूत होकर हमारे चित्त पर अधिकार कर लेती है। असीम की वह आकुलता ही वह वेदना है, जो वेदों के अनुसार सारे आकाश को व्यथित किये हुये है। वह 'रोदसी 'क्रन्दसी'–वह वेदना रो रही है। सृष्टि का क्रन्दन रूप, आलोक और आकाश के नाना आवर्त्तनों में आवर्तित है। वह क्रन्दन सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, अणु-परमाणु, सुख-दुःख, जन्म-मरण में है सारे विश्व का वह क्रन्दन मनुष्य के अन्तर में भी है। समग्र आकाश का वह क्रन्दन एक सुन्दर जल-पात्र की रेखाओं में निःशब्द दिखाई पड़ता है। इस पात्र में असीम आकाश के अमृत निर्भर से रसधारा भरनी होगी, तभी शिल्पी की बुलाहट हुई, अव्यक्त की गम्भीरता से अनिर्वचनीय की रसधारा में। इसके द्वारा जो रस मनुष्य के पास आयेगा उससे तो उसके शरीर की तृष्णा नहीं मिटेगी। शरीर की प्यास मिटाने के लिये जो पानी है उसके लिए वैसा ही पात्र हो, कोई फर्क नहीं पड़ेगा। ऐसे अपूर्व पात्र की क्यों आवश्यकता है? इसका गठन, इसका रंग, कितना विचित्र है। इसे समय नष्ट करना कह कर प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। रूपदक्ष ने अपने चित्त को इस एक ही घट पर उंडेल दिया है। आप कह सकते हैं, यह तो फ़िज़ूल खर्च हुआ। यह बात मैं भी मानता हूँ, सृष्टि के फ़िज़ूल खर्च के

विभाग में ही असीम की खास तहवील रहती है। वहाँ नाना रंगों की रंगिमा, रूप की भंगिमा, दिखाई पड़ती है। जो लोग मुनाफे का हिसाब रखते हैं वे कहते हैं, यह तो नुकसान हुआ, जो संन्यासी हैं वे कहते हैं, यह असंयम है। विश्वकर्मा अपनी हथौड़ी लिये कर्म-व्यस्त हैं, इधर देखने का उन्हें अवसर कहाँ ? विश्व-कवि इस फ़िज़ूल खर्च के विभाग में अपनी झोली बार-बार उडेलकर खाली कर देते हैं। फिर भी रस का व्यापार आज भी दिवालिया नहीं हुआ।

शरीर की पिपासा के अलावा भी मनुष्य की एक और पिपासा है। संगीत, चित्र, साहित्य मनुष्य-हृदय की उस पिपासा की ओर संकेत करते हैं। इसे भुलाया नहीं जा सकता कि वह अन्तरवासी एक की वेदना है। वह कहता है : मुझे रूप में, रंग में, वाणी में, नृत्य में, प्रकाश करो। जो जितना कर सको मेरी व्यक्त व्यथा को व्यक्त करो। यह व्याकुल प्रार्थना जिसके हृदय के गम्भीर स्थान पर आघात कर चुकी है वह आफिस का तगादा, हितैषी का कड़ा आदेश दूर फेंककर निकल पड़ता है। उसके पास कुछ नहीं होता। केवल एक हाबूरा ही उसका संबल है। वह क्या करेगा यह नहीं मालूम। सुर-पर-सुर राग-पर-राग जो उसके अन्तर में बजाएगा, वह कौन है ? वह तो, विज्ञान जिसे प्रकृति कहता है, वह प्रकृति नहीं है। प्राकृतिक निर्वाचन के जमा-खर्च की बही में उसका हिसाब नहीं मिलेगा। प्राकृतिक निर्वाचन उसके जठर में हुक्म चला रहा है। किन्तु मनुष्य क्या पशु है जो प्राकृतिक निर्वाचन की चाबुक की मार से प्रकृति के निर्दिष्ट पथ पर चलेगा ? लीलामय मनुष्य प्रकृति को बुलाकर बोला : मैं रस में निमग्न हूँ, मैं तुम्हारा ख़िदमतग़ार नहीं हूँ, चाबुक तुम अपने पशुओं की पीठ पर मारो। मैं तो धनी नहीं होना चाहता, न ही मुझे पहलवान बनने की अभिलाषा है। मेरे भीतर वही वेदना है जो वेदना निखिल के अन्तर है। मैं लीलामय का शरीर हूँ।

यह बात जाननी पड़ेगी, कि मनुष्य क्यों चित्र आँकने बैठता है, क्यों

गाता है ? कभी-कभी अपने मन में जब गीत गाया है तो कीट्स की तरह मुझे भी एक गम्भीर प्रश्न ने व्याकुल किया है। मैंने पूछा है: यह केवल गाया है या इसका कुछ और अर्थ भी है ? गीत के स्वरों में अपने को बहा दिया, और दूसरे ही क्षण प्रत्येक वस्तु का मूल्य मानो बदल गया। जो अकिंचितकर था, वह भी अपरूप हो गया। क्यों ? क्योंकि गीत के स्वरों में अभी-अभी सत्य को देखा है। अन्तर में सर्वदा वह गीत का स्वर नहीं रहता. यह दृष्टि नहीं रहती, तभी सत्य तुच्छ होकर सरक जाता है। सत्य का प्रत्येक रूप ही अनिर्वचनीय है, इसे हम अनुभव नहीं कर पाते है। नित्य अभ्यास का स्थूल पर्दा उसकी दीप्ति को आवृत् कर देता है, सुर का वाहन हमें उस पर्दे के पीछे सत्य-लोक में ले जाता है—वहाँ पैदल नहीं जाया जा सकता, वहाँ जाने का रास्ता किसी ने आँखों से नहीं देखा है।

ज़रा अधिक कवित्व लग रहा है ? पाठक मन में सोच रहे होंगे, मात्रा अधिक हो रही है। अच्छा, इस विषय को सरल भाषा में समझाने की कोशिश करता हूं। हमारा मन जिस ज्ञान-राज्य में विचरण करता है वह दो-मुंहो पदार्थ है। उसके एक ओर है तथ्य और दूसरी ओर है सत्य। जैसे है वैसे भाव का नाम है तथ्य, और यह तथ्य जिस का अवलम्बन करके रहता है, उसका नाम है सत्य।

मेरा व्यक्ति रूप मुझ में बद्ध मैं ही हूं। यह जो तथ्य है, यह अन्धकार का वासी है, यह अपने-आपको प्रकाशित नहीं कर सकता। जब कभी कोई इसका परिचय पूछेगा तो एक बड़े सत्य के द्वारा इसका परिचय देना पड़ेगा—वह सत्य जिसका आश्रय करके यह रहता है। मैं व्यक्तिगत मैं हूं इस तथ्य में, मैं मनुष्य हूं इस सत्य को जब प्रकाशित करता हूं, तब विराट एक के आलोक में मैं नित्यता से उदभासित हो उठता हूं। तथ्य में सत्य का प्रकाश ही प्रकाश है।

साहित्य और ललित कला का काम है प्रकाश करना, इसीलिए तथ्य के पात्र को आश्रय बनाकर हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही

उसका प्रधान कार्य है। यह स्वाद एक का स्वाद होता है। मैं व्यक्ति-गत रूप से मैं हूं, यह मेरी सीमा की बात हुई, यहाँ मैं व्यापक एक से विच्छिन्न हूं। मैं मनुष्य हूं, यह कहने पर मैं विराट एक के साथ युक्त होकर प्रकाशमान हूं।

चित्रकार जब चित्र आँकने बैठता है तो वह तथ्य का संवाद देने नहीं बैठता। तब वह तथ्य को उतना ही स्वीकार करता है जितने को उपलक्ष्य करके किसी सुषमा का छन्द विशद्ध रूप में दिखाई दे सके। यही छन्द विश्व की नित्य वस्तु है, इसी छन्द के ऐक्यसूत्र में ही हम सत्य को देख पाते हैं। इस विश्वछन्द के द्वारा तथ्य यदि उद्भासित न हो तो वह हमारे निकट अकिंचितकर होगा।

गोधूलि की वेला में एक बालिका मंदिर से बाहर आयी, यह तथ्य देखने में अति सामान्य है। इस संवाद मात्र के द्वारा यह चित्र हमारे सामने प्रतिभासित नहीं होता, हम सुनकर भी नहीं सुनते, चिरन्तन एक के रूप में यह हमारे हृदय में स्थान नहीं पाता। यदि कोई वक्ता हमारे मन को आकर्षित करने के लिए बारबार इसी संवाद की पुनरा-वृत्ति करे तो मैं विरक्त होकर कहूंगा : मानता हूं कि बालिका मन्दिर से बाहर आ ही गयी, किन्तु मुझे इससे क्या ? अर्थात् मैं अपने साथ इस घटना का कोई सम्बन्ध अनुभव नहीं कर रहा हूं, इसलिए यह घटना मेरे निकट सत्य नहीं है। किन्तु जिस क्षण छन्द, स्वर और उपमा के द्वारा यह सामान्य बात ही एक सुषमा के अखण्ड ऐक्य के साथ युक्त हो गयी, मेरा यह प्रश्न भी शान्त हो गया, कि मुझे इससे क्या ?' कारण, सत्य का पूर्ण रूप जब हम देखते हैं तो उसे व्यक्तिगत सम्बन्ध के द्वारा नहीं देखते सत्यगत सम्बन्ध के द्वारा ही उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। गोधूलि की बेला में बालिका मन्दिर से बाहर आयी, इस बात को यदि सम्पूर्ण करना पड़े तो और भी बहुत कुछ कहना पड़ेगा। कवि यह कह सकते हैं, उस समय बालिका को भूख लगी थी और मन-ही-मन एक विशेष मिष्टान की बात सोच रही थी। उस समय, सम्भव है, यह चिन्ता

ही बालिका के मन में प्रबल हो। किन्तु तथ्य संग्रह करना कवि का काम नहीं है। इसलिए बड़ी बड़ी-बातों की छंटाई हो जाती है। तथ्य का बाहुल्य वर्जित होते ही संगीत के बन्धन में छोटी बात भी उत्कर्ष से परिपूर्ण हो जाती, कविता सम्पूर्ण और अखण्ड मालूम होती है और पाठक का मन सामान्य तथ्य के भीतर के सत्य को गम्भीर भाव से अनुभव करता है। इस सत्य के ऐक्य का अनुभवमात्र ही हमें आनन्द देता है।

अर्थात् गुणी चितेरा जब किसी घोड़े को आँकता है तो वर्ण, रेखा और संस्थान के द्वारा एक सुषमा का उद्भासन करके उस घोड़े को सत्य रूप में हमारे सामने उपस्थित करता है, तथ्य के रूप में नहीं। उसमें से फ़ालतू खुचुरबाद चली जाती है। एक चित्र अपने निरतिशय ऐक्य को प्रकाशित करता है। तथ्यगत चोले के आत्म त्याग के कारण ही यह ऐक्य बाधा मुक्त होकर विशुद्ध रूप में व्यक्त होती है।

किन्तु तथ्य की सुविधा यह है कि उसकी परीक्षा सहज ही में की जा सकती है। घोड़े का चित्र घोड़े जैसा ही हुआ है, इसे प्रमाणित करने में देर नहीं लगेगी। घोड़े के चित्र को यदि केवल घोड़े के रूप में ही दिखाया जाय तो हिसाब मिल जायगा और यदि उसे उपलक्ष्य करके चित्र बनाना ही लक्ष्य हो तो हिसाब की बही बन्द कर देनी पड़ेगी।

वैज्ञानिक जब घोड़े का परिचय देना चाहता है तो उसे एक श्रेणीगत् सत्य का आश्रय लेना पड़ता है। यह घोड़ा क्या है? एक विशेष श्रेणी का स्तनपायी चतुष्पद प्राणी। ऐसी व्यापक भूमिका में घोड़े को लाने के सिवाय और कोई रास्ता नहीं रहता।

साहित्य और कला की भी एक व्यापक भूमिका है। साहित्य और कला में जो वस्तु सत्य है उसका प्रमाण होता है रस की भूमिका में। अर्थात् वह वस्तु, यदि ऐसा एक रूपरेखा और गीत की सुषमा-युक्त ऐक्य पा सके जिससे हमारा चित्त आनन्दित होकर उसे सत्य के रूप में स्वीकार करले तो उसका परिचय सम्पूर्ण होगा। ऐसा यदि न हो और तथ्य के हिसाब से वह वस्तु पूर्ण हो तो अरसिक भले ही उसे

वरमाल पहनायें परन्तु रसिक व्यक्ति तो उसे वर्जित ही रखेगा।

किसी जापानी चित्रकार के एक चित्र में देखा कि एक मूर्ति के सामने सूर्य तो है किन्तु पीछे छाया नहीं है। ऐसी अवस्था में एक लम्बी छाया पड़ती है, यह बात एक छोटा बच्चा भी जानता है। किन्तु वस्तु-विद्या की जानकारी देने के लिये तो चित्र की सृष्टि नहीं हुई है। कला रचना में भी जो लोग भयभीत रहते हैं वे कैसे चित्रकार हैं। अतः रूप के क्षेत्र में रस को प्रकाशित करने के लिए तथ्य का वर्णन करना पड़ता है। एक दृष्टान्त दूं :

खोका एलो नाये
लाल जुतुआ पाये।

जूता तथ्य की श्रेणी में पड़ता है--इस में कोई सन्देह नहीं है। मोची की दूकान पर अपनी पसन्द का जूता हर व्यक्ति खरीद सकता है, किन्तु जुतुआ ? मोची तो दूर रहा, विलायती दूकान के बड़े बाबू भी इसकी जानकारी नहीं रखते। जुतुआ की जानकारी रखती है मा और रखता है बच्चा !

कविता में जिस भाषा का व्यवहार होता है उसके प्रत्येक शब्द का कोश में निर्दिष्ट अर्थ मिलेगा। वह विशेष अर्थ ही शब्द की तथ्य-सीमा है। इस सीमा को छोड़कर शब्द के भीतर से असीमता को प्रकाशित करना होगा। तभी तो इतने संकेत, इतने कौशल और इतनी भंगिमाएँ होती हैं। ज्ञानदास का एक पद याद आरहा है—

रूपेर पाथारे आँखि डुबिया रहिल-
यौवनेर वने मन पथ हाराइल।

तथ्य वागीश इस कविता को सुनकर कहेंगे, क्या बकवास है, रूप का पाथार क्या होता है ? और आँख यदि डूब ही गयीं तो रूप देखोगे कैसे ? और यौवन का वन किस देश में है ? वहाँ का रास्ता किसे मिलता है और पथभ्रष्ट कौन अभागा होता है ? जो लोग तथ्य ढूंढ़ते हैं उन्हें यह समझना होगा कि निर्दिष्ट शब्द के निर्दिष्ट अर्थ ने

जो दुर्ग बना रखा है, छल, बल तथा कौशल से उसी में छिद्र करके सत्य को देखना होगा। दुर्ग की पथरीली दीवाल देखना तो कवि का काम नहीं है।

जो लोग तथ्य की ओर दृष्टि रखते हैं, उनके हाथों से कवियों की कैसी दुर्गति होती है इसका एक दृष्टान्त दूँ। मैंने कविता में एक बौद्ध कहानी लिखी है। उसका विषय यह है—

एक दिन प्रभात में अनाथपिंडद भगवान् बुद्ध के नाम पर श्रावस्तपीपुरी में भिक्षा माँग रहे थे। धनिकों ने धन दिया, श्रेष्ठियों ने मणि-माणिक्य दिये, राजगृह की वधुओं ने हीरे-मुक्तों से जड़ित आभूषण दिये। किन्तु यह धन-रत्न पड़ा रहा, भिक्षा की झोली के भीतर नहीं गया। अनाथपिंडद ने एक भिक्षुक कन्या को देखा। उसके तन पर एक जीर्ण चीर के सिवाय और कुछ नहीं था। वृक्ष की आड़ में होकर उस भिक्षुक-कन्या ने अपने तन का अन्तिम वस्त्र उतार कर भगवान् बुद्ध के नाम पर दान कर दिया। अनाथपिंडद् बोले—बहुत लोगों ने बहुत कुछ दिया है, लेकिन अपना सर्वस्व किसी ने नहीं दिया। अब मेरे प्रभु के योग्य दान मिला है, मैं धन्य हो गया।

एक प्रवीण, विज्ञ एवं धार्मिक ख्यातिवान् व्यक्ति इस कविता को पढ़कर बोले, यह तो लड़के-लड़कियों के पढ़ने लायक़ कविता नहीं है। हाय मेरा भाग्य! बौद्ध धर्मग्रन्थ से कथासार ले आया, फिर भी साहित्य की आबरू नष्ट हो गयी! नीति-निपुण की दृष्टि में तथ्य ही बड़ा हुआ, सत्य पर आवरण पड़ गया। हाय रे कवि! पहले तो भिखारिन से दान लेना ही तथ्य के हिसाब से अधर्म हुआ, फिर लेना था तो उसके हाथ की एकमात्र हंडिया ही ले लेते जिससे साहित्य के स्वास्थ्य की तो रक्षा हो जाती। तथ्य की दृष्टि से यह बात नतमस्तक होकर माननी पड़ेगी। किन्तु सत्य के जगत् में स्वयं भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य ने ऐसी भिक्षा ग्रहण की है और भिखारिन ने ऐसी भिक्षा दी है। उसके बाद वह

लड़की उस अवस्था में किस प्रकार घर लौटकर जायेगी, यह तर्क सत्य के जगत् से सर्वथा विलुप्त हो गया है।

तथ्य का इतना बड़ा अप-लाप घटता है और सत्य तनिक भी खराब नहीं होता—साहित्य क्षेत्र में ऐसा ही होता है। रस-तत्त्व और तथ्य वस्तु का एक स्थान तथा एक ही मूल्य नहीं है। तथ्य जगत् की जो आलोक-रश्मि दीवाल से बाधा पाकर ठहर जाती है, रस जगत् की वह रश्मि स्थूल को भेद कर अनायास पार हो जाती है, उसके लिए मिस्तरी बुलाने या दीवाल फोड़ने की आवश्यकता नहीं होती। रसजगत् में भिखारी का जीर्ण चीर-चीर नहीं है, उसका मूल्य लखपति क सारे ऐश्वर्य से अधिक है।

तथ्य जगत् में एक अच्छा डाक्टर सभी ओर से एक योग्य व्यक्ति माना जा सकता है। किन्तु उसके पास पैसा और प्रतिपत्ति चाहे जितनी ही क्यों न हो, एक चौदह पंक्तियों की कविता भी उस पर नहीं लिखी जा सकती। यदि कोई लिख ही बैठता है तो बड़े डाक्टर पर लिखी गयी उस कविता की आयु चौदह दिन भी नहीं होगी। अतः रसजगत् की आलोक-रश्मि इतने बड़े डाक्टर के भीतर से भी पार हो जाती है। किन्तु इस डाक्टर को जिसने तन-मन से चाहा है उसके पास डाक्टर ही रसवस्तु के रूप में प्रकाशित होता है। ऐसा होते ही डाक्टर का प्रेमासक्त अनायास ही कह सकता है :

जनम अवधि हम रूप नेहारनु
नयन न तिरपित भेल,
लाख लाख युग लिये हिये राखनु
तबु हिया जुड़न न गेल। (विद्यापति)

आंकिक ने कहा है, लाख-लाख युग पहले डारविन के मतानुसार डाक्टर की पूर्व सत्ता क्या थी यह प्रसंग उत्थापन करना नीति-विरुद्ध न होते हुए भी रुचि-विरूद्ध है। जो भी हो, असल बात यह है कि

डाक्टर की जन्म-पत्री में लाख-लाख युगों का अंकपात हो ही नहीं सकता।

तर्क करना अनावश्यक है, शिशु भी इस बात को जानता है। डाक्टर का जन्म तो उस दिन हुआ है, किन्तु जो बंधु है वह नित्यकाल के हृदय का धन है। वह किसी काल में नहीं था और किसी काल में नहीं रहेगा, यह बात वह सोच ही नहीं सकता।

ज्ञानदास ने कहा है:

एक दुइ गणइते अन्त नाहि पाई,
रूपे गुणे रसे प्रेमे आरति बढ़ाई।

एक:दो का क्षत्र विभाग का क्षेत्र है। किन्तु रस सत्य के क्षेत्र में जिस प्राण की आरती बढ़ती ही जाती है, वह अक के हिसाब से नहीं बढ़ती।

अतः काव्य या चित्र-कला के क्षेत्र में जो लोग सवक्षण-विभाग का मापदण्ड लेकर सत्य के चारों ओर तथ्य की सीमा खड़ी करना चाहते हैं, गुणियों ने उनकी ओर देखकर विधाता के पास फ़रियाद की है:

इतर तापश तानि यथेच्छया
वितर हानि सहे चतुरानन।
अरसिकषु रसस्य निवेदनं
शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।

साहित्य का वास्तविक स्वरूप

साहित्य के स्वरूप के बारे में अपने विचार पहले भी कहीं-कहीं व्यक्त कर चुका हूँ। ये विचार बाहरी अभिज्ञता या विश्लेषण से नहीं, बल्कि अन्तर की उपलब्धि से किये हैं। लेकिन किसका तगादा है, यही बात अपने से भी पूछता हूँ। कविता भीतर का तगादा है। उत्तर में जो मिला है उसे सहज रूप में समझाना सम्भव नहीं है। पंडितो के इस विषय पर जो बंधे हुए वचन जमा हो गये हैं, विषय के उठते ही वे आगे आना चाहते हैं। अपने उपलब्ध अभिमत को कहने के लिए उन्हें सर-काना पड़ेगा।

शुरू में ही सुन्दर को लेकर गोल माल शुरू होता है। सुन्दर के बोध को बोधगम्य करना काव्य का उद्देश्य है, यह बात किसी उपाचार्य के कहते ही इसे मान लेने की इच्छा होती है किन्तु प्रमाण-संग्रह करते वक्त धोखा होता है। सोचता हूँ, सुन्दर कहते किसे हैं ? कन्या को देखते वक्त वर के अभिभावक जिस दृष्टिकोण से कन्या को खड़ी करा कर देखते हैं, उसे चला कर, उसके केश खुला कर, उससे बात करके उसकी परख करते हैं, उस आदर्श को काव्य की परख करते वक्त यदि व्यवहार में लाया जाय तो पग-पग पर बाधा मिलेगी। यह स्पष्ट है कि फुलस्टाप से कन्दर्प की तुलना नहीं होती और साहित्य के चित्र-भंडार से कन्दर्प को बाद देने पर भी नुकसान नहीं है, नुकसान है फुलस्टाप को बाद देने पर। यह देखा गया है कि सीता का चरित्र रामायण में महा-

मान्वित है किन्तु स्वयं वीर हनुमान, उनकी जितनी बड़ी पूँछ है, उतनी ही बड़ी मर्यादा उन्हें मिली है। ऐसे संशय के वक्त कव की वाणी याद आती है, सत्य ही सुन्दर है। किन्तु सत्य में सौंदर्य का रस तभी पाते हैं जब अंतर में उसकी निबिड़ उपलब्धि होती है। ज्ञान में नहीं स्वीकृति में। उसे ही वास्तव कहते हैं। सर्व गुणाधार युधिष्ठिर से हठकारी भीम वास्तव है, रामचन्द्र जो शास्त्र की विधि मानकर शान्त रहते हैं उनसे लक्ष्मण वास्तव हैं जो अन्याय न सहन कर सकने के कारण अग्नि शर्मा होकर उसका अशास्त्रीय प्रतिकार करने पर उतारू हैं। हम लोगों का काला कलूटा नौकर नील मणि, जिसे जो कहो उसका उल्टा करता है, और धमकाने पर मृदु हंसी हंसकर कहता है भूल होगई, वह मूल्यवान पोशाक पहन कर वर के वेश में आने पर कैसा लगेगा यह बात तुच्छ है; लेकिन अनेक विख्यात लोगों से वह अधिक वास्तव है। यहाँ इस प्रसंग में उसका नाम लेते हुए मुझे कुंठा हो रही है। अर्थात् यदि कविता लिखी जाय तो इसे किसी वाग्मी प्रवर गण-नायक के बदले नायक या उप-नायक बनाया जाय तो अधिक अच्छा होगा। अधिक परिचित होने पर ही वह वास्तव होगा, ऐसी बात नहीं है, किन्तु जिसे कम जानता हूँ फिर भी उसे ही अपारहार्य रूप से स्वीकार करता हूँ, वही मेरे लिए वास्तव है। क्यों स्वीकार करता हूँ, यह कहना कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है वे जैव हैं। उन्हें आत्मसात करने में रुचि अथवा इच्छा की बाधा हो सकती है लेकिन और कोई बाधा नहीं है। जैसे भोजन पदार्थ कोई कड़वा है, कोई मीठा है. कोई खट्टा है, इनके व्यवहार में तारतम्य रहने पर भी सभी में एक साम्य है कि वे जैविक हैं, देहतन्तु के निर्माण में उपयोगी हैं, शरीर के लिये ये हाँ की श्रेणी में हैं, स्वीकृति के दल में हैं, ना की गोष्ठी में नहीं।

संसार में हमारे चारों ओर इन हाँ-धर्मियों की एक मंडली है। यही वास्तव का आवेष्टन है। उन्हें अपने साथ एकत्रित करके हमारी सत्ता अपने को विचित्र रूप से विस्तीर्ण करती है। वे केवल मनुष्य नहीं हैं।

कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, तोता, टूटा हुआ तालाब, गोशाला के आँगन में एकत्रित खर की गंध, पड़ोस से बाजार की ओर जाती हुई गली, लोहार की दूकान से निकलती हुई हथौड़ी की आवाज, पुरानी ईंटों के स्तूप को भेद कर के जो पीपल का वृक्ष निकला है वह सड़क के किनारे पेड़ के नीचे प्रौढ़ों की बैठक, और भी न जाने क्या-क्या जो किसी भी इतिहास में नहीं है, किसी भूचित्र में अंकित नहीं है वह सब इस श्रेणी में है। इनके साथ पृथ्वी के चारों ओर से नाना भाषा के साहित्य लोक से वास्तवों का दल आकर मिला है। भाषा की सीमा को अतिक्रम करके इनमें से जिसके साथ भी परिचय होता है खुश होकर कहता है: वाह, बहुत अच्छा! अर्थात् ये मन और प्राण के साथ मिलते है। इनमें राजा हैं, बादशाह हैं, दीन-दुखी भी हैं, सत्पुरुष हैं, सुन्दरी है, लूला, लंगड़ा, अंधा भी है। इनके साथ हैं वे जो कभी भी किसी भी काल में विधाता के सामने नहीं आये, प्राणी तत्व और शरीर तत्व से जिनका कोई सम्बन्ध नही है, जो प्रचलित रीति-नीति की परवाह नहीं करते; और हैं वे जो ऐतिहासिक की पोशाक में यहाँ पर आते हैं: कोई मुगलों की-सी पगड़ी बाँधे हुए हैं तो किसी ने जोधपुरी पैजामा पहन रखा है, किन्तु जिनका बारह आना इतिहास जाली है और प्रमाण माँगने पर निर्लज्ज की तरह कहते हैं: डोन्ट केयर (परवाह नहीं)! पसंद है या नहीं, यही देख लो। इसके अलावा है भावावेग की वास्तविकता, सुख-दुख, मिलन विच्छेद, लज्जा, भय, वीरत्व और कापुरुषता। ये साहित्य का वायुमंडल प्रस्तुत करते हैं। यहाँ रौद्र वृष्टि, यहाँ धूप छाँव, यहाँ कुहरा, यहाँ मरीचिका की चित्रकला। बाहर से मनुष्य का यह निजस्व सग्रह भीतर से मनुष्य को अपने साथ मिला कर सृष्टि करना यही उसकी वास्तव मंडली है, विश्वलोक के बीच यही उसका अंतरंग मानव-लोक है। इसमें सुन्दर, असुन्दर, बुरा, भला, संगत असंगत, सुरीला और बेसुरा सभी हैं। जब कभी अपने में ही वे ऐसा साक्ष्य लेकर आते हैं कि उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है तो आनन्द होता है। विज्ञान, इतिहास यदि उन्हें असत्य कहें तो कहें, मनुष्य अपने

मन की एकान्त अनुभूति से उन्हें निश्चित सत्य कहेगा। इस सत्य का बोध ही आनन्द देता है। यह आनन्द ही उसका अन्तिम मूल्य है। लेकिन किस तरह कहूँ कि सुन्दर के बोध का बोधगम्य करना ही काव्य का उद्देश्य है।

साहित्य का मूल्य

उस दिन अनिल के साथ साहित्य के मूल्य के आदर्श-के निरन्तर परिवर्तन के बारे में बातें हो रही थीं। उस प्रसङ्ग में मैंने कहा था कि भाषा साहित्य का वाहन है, समय-समय पर भाषा का रूप बदलता है, इसीलिए इसकी व्यंजना के अन्तर्गत केवल तारतम्य ही होता है। इसे और भी साफ समझाना जरूरी है।

मेरे जैसे गीति-कवि अपनी रचनाओं में विशेष रूप से रस का कार-बार करते हैं। युग-युग में लोगों के मुँह में इस रस का स्वाद बदलता रहता है और क्रमशः शुष्क नदी की तरह तले चला जाता है। इसलिए रस का व्यवसाय सर्वदा फेल होने पर ही उतारू रहता है। इसके गौरव से गर्व करने की इच्छा नहीं रहती। किन्तु यह, रस की अवतारणा हीं साहित्य का एकमात्र अवलम्बन नहीं है। इसकी और एक दिशा है, जिसे रूप-सृष्टि कहते हैं, जिसमें प्रत्यक्ष अनुभूति रहती है, अनुमान या ध्वनि की झंकार नहीं। बाल्यकाल में एक दिन अपनी किसी पुस्तक का नामकरण किया था—'छवि और गान'। सोचने पर यह मालूम हो जायगा कि इन दो शब्दों से ही सारे साहित्य की सीमा का निर्णय किया जा सकता है। छवि कोई गूढ़ वस्तु नहीं, वह स्पष्ट और दृश्यमान होगी। उसके साथ अगर रस का सम्मिश्रण हो तो भी उस रस के प्रलेप से वह धुँधली नहीं होगी। इसलिए उसकी प्रतिष्ठा दृढ़तर है। साहित्य में हमें मनुष्य-भाव के बहुत से अनुभव होते हैं, जिन्हें भूलते देर नहीं लगती। किन्तु

साहित्य में जहाँ मनुष्य मूर्ति-उज्ज्वल रेखाओं में अंकित है, वहाँ भूलने का रास्ता ही नहीं। इस गतिशील जगत् में जो कुछ भी चल-फिर रहा है, उसी के राज-पथ पर वह भी चलता है। इसीलिए शेक्सपियर के 'लुक्रिस' और 'मिन्स ऐण्ड एडोनिस' के काव्यों का स्वाद हमें आज अच्छा नहीं लग रहा है, यह कहें या नहीं कहें, किन्तु 'लेडी मैकबैथ' या 'किंग लीयर' अथवा 'एन्टनि ओ क्लिओपेट्रा' के बारे में यदि कोई ऐसा कहे तो कहूंगा कि उसकी रुचि का स्वास्थ्य खराब हो गया—उसकी अवस्था स्वाभाविक नहीं है। शेक्सपियर ने मानव-चरित्र की चित्रशाला का द्वार खोल दिया है, जहाँ युग-युग में लोग एकत्र होंगे। उसी तरह यह कह सकता हूँ कि 'कुमार-सम्भव' का हिमालय-वर्णन अत्यन्त कृत्रिम है। उसमें संस्कृत भाषा की ध्वनि-मर्यादा रह सकती है, किन्तु रूप की सत्यता एकदम नहीं है। किन्तु सखियों से घिरी हुई शकुन्तला सदा की है। उसे दुष्यन्त प्रत्याख्यान कर सकता है किन्तु किसी भी युग का पाठक नहीं। मनुष्य उठ रहा है। मनुष्य की अभ्यर्थना वह सभी युगों और सभी देशों में पायेगा। इसीलिए कह रहा था कि साहित्य क्षेत्र में रूप-सृष्टि का आसन खूब है। 'मिड्समर नाइट्स ड्रीम' नाटक का मूल्य कम हो सकता है, लेकिन 'फ्लेगस्टाफ' का प्रभाव बराबर अविचलित रहेगा।

जीवन महाशिल्पी है। वह युग-युग में, देश-देशान्तर में, मनुष्य को नाना भावों से चित्रित करता है। लाखों मनुष्यों का मुख मण्डल आज विस्मृति के अन्धकार में अदृश्य है लेकिन तो भी शत-सहस्र ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष हैं, इतिहास में जो आज भी उज्ज्वल हैं। जीवन का यह सृष्टि-कार्य यदि साहित्य में समुचित स्थान पाता है तभी वह अक्षय हो सकता है। उसी प्रकार का साहित्य धन्य है, धन्य है डानकूईजट, धन्य है 'रोबिन्सन क्रूसो'। हमारे घर ढह गये हैं, जीवन-शिल्पी की रूप रचना अंकित हो गयी। कोई-कोई धुंधली, अपूर्ण और असमाप्त और कोई-कोई उज्ज्वल। साहित्य में जहाँ कहीं जीवन का प्रभाव उस विशेष काल में प्रचलित कृत्रिमता को छोड़कर सजीव हो उठता है वहीं उसकी अमरता

है। किन्तु जिस प्रकार जीवन मूर्ति-शिल्पी है उसी तरह रसिक भी है। वह विशेष रूप से रस का भी व्यवसाय करता है। उस रस का पात्र यदि जीवन में अनुभूति नहीं पाता है, यदि वह विशेषकाल के विशेषत्व को ही प्रकाश करता है अथवा केवल रचना-कौशल का ही परिचय देता है तो साहित्य में उस रस का संचय विकृत हो, सूख कर मर जाता है। जिस रस के परिवेषण में महारसिक जीवन के अकृत्रिम आस्वादन का दान रहता है, वहाँ रस के न्यौते में उपेक्षित होने का डर नहीं रहता। 'चरण-नखों पर गिर दस चांद रोयें' इस पंक्ति में वाक्चातुर्य तो है, किन्तु जीवन का स्वाद नहीं। लेकिन—

तोमार ऐ माथार चुड़ाय जे रंग आछे उज्ज्वल से रंग दिये रांगा ओ आमार बुकेर कोंचलि—(तुम्हारे उस मस्तक की चूड़ा में जो उज्ज्वल रंग है उसी रंग से मेरे हृदय की कोंचलि को रंग दो) इसमें जीवन का स्वाद है, निःसंशय इसे हम ग्रहण कर सकते हैं।

काव्य और छन्द

गद्य-काव्य को लेकर संदिग्ध पाठक के मन में यदि विचार उठता है तो इसमें कोई नवीनता नहीं।

यह मानना ही पड़ेगा कि छन्द में जो वेग है उसी वेग से रसगर्भ वाक्य सरलता से हृदय में प्रवेश करते हैं। सिर्फ यही नहीं, अपने दैनिक व्यवहार में जिस गद्य का हम प्रयोग करते हैं काव्य का जगत् उससे दूर है। पद्य की भाषा-विशेषता इसे स्पष्ट करती है और तभी मन में उसकी रेखा अपने आप खिंच जाती है। मैं ऐसे काव्य की ही अन्तर अभ्यर्थना करता हूँ। संन्यासी के गैरिक वस्त्र इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि वह गृही से पृथक है। तभी भक्त का मन उसके चरणों पर झुकता है, नहीं तो सन्यासी को भक्त के व्यवसाय में घाटे का डर रहता है।

किन्तु यह कहना आवश्यक है कि सन्यासी-धर्म का मुख्य तत्व उसके गैरिक वस्त्र नहीं, उसकी साधना की सत्ता है। इसे जो समझता है, गैरिक वस्त्र न भी हो तो उसका मन अधिक आकृष्ट होता है। वह कहता है कि मैं अपनी बोध-शक्ति द्वारा ही सत्य को जानूँगा, उस गैरिक वस्त्र से नहीं जो बहुत से असत्य दबा रखता है।

छन्द ही ऐकान्तिक रूप से काव्य हो, ऐसी बात नहीं। काव्य की जड़ है रस में, छन्द इसी रस का परिचय देता है। छन्द काव्य की दो प्रकार से सहायता करता है। इसमें हिलाने की एक स्वाभाविक शक्ति है और दूसरी बात यह है कि पाठक के मन में एक चिराभ्यस्त संस्कार रहता

ही है। इस संस्कार की बातें सोचने लायक हैं। एक समय छन्द को कई भागों में बाँट कर पंक्तियाँ बनायी जाती थीं। एक पंक्ति हर दूसरी पंक्ति से बराबर मिल जाती थी। यही एकमात्र प्रथा थी। उस समय हमारे कान भी वैसे ही अभ्यस्त थे। छन्दों में मेल रखना उस वक्त जरूरी था।

इसी वक्त माईकेल मधुसूदन ने छन्द में एक नया प्रयोग किया। इसे अमिताक्षर छन्द कहते हैं। इस छन्द में पंक्तियाँ ठीक ही हैं लेकिन छन्द का पदक्षेप सर्वदा सीमा छोड़ कर पड़ता है। अर्थात्, इसकी भंगिमा पद्य की तरह है लेकिन व्यवहार पद्य रीति से भिन्न है। यह छन्द हमारे प्राचीन संस्कार के प्रतिकूल था।

संस्कार की अनित्यता का एक और दृष्टान्त है। एक समय कुल-बधू की संज्ञा थी, अन्तःपुरचारिणी । पहले जो कुल-स्त्रियाँ अन्तःपुर से असंकोच बाहर आईं उन्होंने साधारण के संस्कार को धक्का दिया था। इसीलिये उन्हें संदेह की दृष्टि से देखना, उनकी निन्दा करना, प्रहसन में उन्हें मजाक का विषय बनाना इत्यादि प्रचलित हुआ था। उन दिनों जो लड़कियाँ विश्वविद्यालयों में पुरुषों के साथ पढ़तीं, उनके बारे में पुरुष जैसा आचरण करते थे, वह याद ही है।

क्रमशः इस संज्ञा का परिवर्तन हो रहा है। कुल-स्त्रियाँ निस्संशय कुल-स्त्रियाँ ही हैं, यद्यपि अन्तःपुर के अवरोध से वे आज मुक्त हैं।

इसी तरह अमिताक्षर छन्द को आज कोई विरोधी नहीं मानता। पुराने विधान का यह लंघन कर गया है।

यह इसलिये हुआ कि उस समय अंग्रेजी पढ़े हुये पाठक शेक्सपियर और मिल्टन के छन्द को मानने पर मजबूर थे। अमिताक्षर को छन्द की जाति में लेने वाले के बारे में साहित्यिक सनातनियों ने कहा, यद्यपि यह छन्द चौदह अक्षरों को छोड़ जाता है तो भी पयार छन्द की लय को अमान्य नहीं करता। अर्थात् लय की रक्षा करके इस छन्द ने काव्य-धर्म की रक्षा की है।

अमिताक्षर छन्द के बारे में लोगों का इतना ही विश्वास है। उनका मत है कि पयार छन्द के साथ इसका यह सम्बन्ध अगर न रहे तो अमिताक्षर छन्द, छन्द ही न रहे। क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता, ये दोनों बातें केवल होने पर निर्भर करती हैं, लोगों के अभ्यास पर निर्भर नहीं करतीं—यही बात अमिताक्षर छन्द ने प्रमाणित की है। आज गद्य-काव्य पर यह प्रमाणित करने का भार पड़ा है कि गद्य में भी काव्य का सचरण असाध्य नहीं है। अश्वारोही सैनिक भी सैन्य हैं और पैदल सैनिक भी—इनका मूलगत् मित्र कहाँ है, जब कि युद्ध में विजयी होना ही दोनों का लक्ष्य है।

काव्य का लक्ष्य है हृदय-जय करना—चाहे वह पद्य के घोड़े पर सवार होकर हो या गद्य से चल कर। उस उद्देश्य की साधना की क्षमता से ही उसका विचार करना होता है। हारने पर ही हार है, वह चाहे घोड़े पर सवार होकर हो या पैदल। छन्द में लिखने से ही कोई रचना काव्य नहीं हो सकती—इसके सहस्त्रों प्रमाण हैं। गद्य-रचना भी काव्य नाम रख लेने से कभी काव्य नहीं हो सकती, इसके लिए भी दृष्टान्तों का अभाव नहीं।

छन्द में एक सुविधा यह है कि छन्द में ही एक अपना माधुर्य है; और कुछ नहीं तो यही लाभ समझिये। सस्ती मिठाई में चीनी का परिमाण अधिक होता है और खोआ का कम; लेकिन जो भी हो मिठास तो अधिक रहती हो है।

किन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं जो बच्चों की तरह अधिक चीनी खाना पसन्द नहीं करते, मन लुभाने वाले माल-मसालों को छोड़ कर उन्हें शुद्ध वस्तु से अधिक लगाव होता है। वे यह कहना चाहेंगे कि असली काव्य छन्द या अछन्द में नहीं बल्कि उसका गौरव आन्तरिक सार्थकता में है।

गद्य हो चाहे पद्य, रचना मात्र का ही एक स्वाभाविक छन्द होता है। पद्य में वह प्रत्यक्ष और गद्य में अन्तर्निहित रहता है। उस निगूढ़

छन्द का पीड़न करने से ही काव्य को आहत करना होता है। पद्य में छन्द एक बनाये हुए नियम पर चल सकता है। लेकिन गद्य में ऐसी बात नहीं। गद्य में छन्द का परिमाण-बोध यदि सहज ही मन में न रहे तो अलंकार-शास्त्र की सहायता से भी इसकी दुर्गमता पार करना संभव नहीं है।

लेकिन बहुत से लोगों की यह धारणा है कि जैसे गद्य सहज है, उसी प्रकार गद्य-छन्द भी सहज है। और यह सहज का प्रलोभन ही अनिष्टकर होता है, इससे असतर्कता का अभाव होता है, असतर्कता कला-लक्ष्मी का अपमान करती है और कला-लक्ष्मी उसका बदला अकृतार्थता देकर लेती है। असतर्क लेखकों के हाथों में गद्य-काव्य अवज्ञा और परिहास का उपादान स्तूपीकृति करेगा-ऐसी आशंका है। किन्तु यह सहज बात कहनी ही पड़ेगी कि जो पदार्थ काव्य होगा, वह गद्य हो, तो भी काव्य है, और पद्य हो, तो भी।

अन्त में यही एक बात कहनी है कि काव्य प्रत्याहिक जगत की अपरिमार्जित वास्तविकता से पहले जितना दूर था, अब उतना नहीं। अब सब कुछ वह अपने रसलोक में ले लेना चाहता है—अब वह स्वर्गारोहण करते वक्त अपने साथ के कुत्ते को भी नहीं छोड़ता।

वास्तव जगत् और रस जगत् के समन्वय-साधन के लिये पद्य काम आयेगा, क्योंकि गद्य शुचिवायु ग्रस्त नहीं।

साहित्य में आधुनिकता

भाषा की नाड़ी में साहित्य की प्राणधारा रहती है, उसे हिलाने से रचना का हृद्स्पन्दन बन्द हो जाता है। इस तरह के साहित्य में विषय-वस्तु निश्चेष्ट हो जाती है, यदि उस में सजीवता न हो तो। गाय का बछड़ा मर जाने से जब वह दूध नहीं देना चाहती तो मरे हुये बछड़े की खाल को उधेड़ कर उसमें घास-फूस भर कर एक कृत्रिम मूर्त्ति तैयार की जाती है। उसी की गन्ध से और चेहरे को देख कर गाय के स्तनों में दूध उतरता है। अनुवाद करना, वही मरे हुये बछड़े की तरह होता है, केवल छल करना। ये बातें मेरे ही पुराने अनुवादों को देख कर याद आती हैं। इससे मेरे मन में लज्जा और क्षोभ भी होता है।

साहित्य में मैंने जो काम किया है वह यदि क्षणिक और प्रादेशिक नहीं होता है तो जिसे आवश्यक हो वह जब भी चाहे मेरी भाषा में ही अपना परिचय पा सकता है। परिचय का और कोई रास्ता नहीं है। ठीक पथ पर यदि परिचय में देर लगे तो उसमें उसी का नुकसान होता है, वह वंचित रहता है, रचयिता का उसमें कोई दायित्व नहीं है।

प्रत्येक बड़े साहित्य में दिन और रात्रि की तरह क्रमशः प्रसारण और संकोचन की दशा आती है। मिल्टन के बाद ड्राइडेन-पोप का आविर्भाव हुआ था। हम जब पहले अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आये तो वह उसका प्रसारण का युग था। यूरोप में फ्राँसीसी विप्लव ने मानवोचित को जो आह्वान दिया था वह था, मुक्ति का आह्वान।

इसीलिये देखते-देखते उसे साहित्य में भी विश्वजनीन रूप मिला। वह मानो इस सृष्टि का एक सार्वजनीन यज्ञ हो। उस में सब देश के आगन्तुकों को पूरा आनन्द भोग करने का अधिकार मिला। हमारा सौभाग्य समझो कि ठीक उसी वक्त सर्व मानव की मुक्ति की वाणी लेकर यूरोप ने हमारे पास आमन्त्रण भेजा। हमने भी आगे बढ़ने में देर न की। उस आनन्द में हमें भी नव-सृष्टि की प्रेरणा मिली। उसी प्रेरणा ने हमें विश्व की ओर पथ-निर्देश किया।

उस वक्त ऐसा लगा कि केवल विज्ञान ही नहीं, साहित्य-सम्पदा भी अपने उद्भव स्थान को छोड़ कर सब देश और काल में विस्तारित होती है। उसका दान यदि सीमाबद्ध होता है, यदि उसमें अतिथि-धर्म नहीं रहता है तो स्वदेश के लोगों के लिये चाहे वह कितना भी उपभोग्य हो, वह दरिद्र है। यह निश्चित जानते हैं कि अंग्रेजी साहित्य दरिद्र नहीं, उसकी सम्पत्ति स्वजाति की तिजोरी में बन्द नहीं है।

फ्राँसीसी विप्लव के जो अगवा थे, वे ही विश्व के मानविक आदर्श के प्रति विश्वासपरायण थे। धर्म ही हो, चाहे राज-शक्ति ही हो, क्षमता-लुब्ध और मानव-मुक्ति के रोड़ों के विरुद्ध ही उनका संग्राम था। इस विश्व-कल्याण की इच्छा से जो साहित्य था वह मुक्ति-द्वार स्वरूप सभी देश और मनुष्य के लिये था। वही रोशनी और आशा लाया था। इस बीच विज्ञान की सहायता से यूरोप की भूमि पर वैश्य-युग का आगमन हुआ। स्वजाति और परजाति के मर्म स्थल को विदीर्ण करके धनस्रोत यूरोप की इस नवोद्भव धनिक मंडली में बहने लगा।

अब चारों ओर ईर्ष्या और भेद-बुद्धि का प्रभाव यूरोप के अन्दर-ही-अन्दर फैलने लगा। और इस प्रभाव का भयंकर रूप प्रकाशित होने में देर भी न लगी। एक प्रचण्ड अग्निमय स्राव यूरोप के हृदय में भभक पड़ा। इस युद्ध के मूल थे समाज ध्वंसकारी टीपू जिन्हें उदार मनुष्यत्व के प्रति विश्वास न था। इसलिये इस युद्ध का दान, दानव का दान था, जिसका विषैलापन शान्ति नहीं ला सकता।

तभी से यूरोप का चित्त संकुचित होता आ रहा है—सभी देश अपने दरवाजे मजबूत करने में व्यस्त हैं।

एक का अन्य के प्रति अविश्वास जब प्रबल हो उठता है तो उससे बड़ी असभ्यता मेरी दृष्टि में और कुछ नहीं है। राष्ट्रतन्त्र को एक दिन हमने यूरोपवासी की मुक्ति-साधना के लिये तप-भूमि के रूप में देखा था। सहसा देखा सब नष्ट हो रहा है। वहाँ के देश-देश में जनसाधारण के हाथ-पाँवों में बेड़ियाँ कठोर होने लगीं। राष्ट्र-नेताओं के रोम-रोम में हिंसा कूट-कूट कर भरी हुई थी। इसका कारण था भीरुता, विषय-बुद्धि की भीरुता। इस डर से कि धन की दौड़ में कहीं नुकसान न हो जाय।

इसलिये बड़े-बड़े शक्ति-धरों के निकट देश के लोग अपना आत्म-सम्मान, अपनी स्वाधीनता, बेचने को तैयार हैं। यहाँ तक कि स्वजाति की चिरागत संस्कृति को खर्च होती देख कर भी शासनतन्त्र की बर्बरता को शिरोधार्य कर लेते हैं। वैश्य युग की यह भीरुता ही मनुष्य की मर्यादा के टुकड़े कर देती है।

आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के बारे में मेरी सीमाबद्ध अभिज्ञता से मेरे जो अनुभव हैं, अधिकांश में वे शायद अज्ञता हों। इस साहित्य का साहित्यिक मूल्य बहुलाँश में यथेष्ट हो सकता है—समय-समय पर उसकी परख होती रहेगी।

व्यक्तिगत रूप से मैं जो कह सकता हूँ, वह एक निर्दिष्ट सीमा से होगा।

आधुनिक अंग्रेजी काव्य-साहित्य में मेरा प्रवेशाधिकार अत्यन्त बाधाग्रस्त है। मेरे इस कथन का यदि कोई व्यापक मूल्य हो तो यही प्रमाणित होगा कि इस साहित्य में दूसरे नाना गुण रह सकते हैं, लेकिन एक गुण का अभाव है जिसे सार्वभौमिकता कहते हैं। अंग्रेजी साहित्य को तो हमने आनन्द के साथ सिर्फ ग्रहण ही नहीं किया, बल्कि

उससे हमारे यात्रा पथ में सहारा मिला है। उसका प्रभाव तो आज भी मन में है। रुद्ध द्वार यूरोप की दुर्गमता आज उसके साहित्य में अनुभव होती है। उसकी कठोरता मेरे निकट अनुदार लगती है। यहाँ से ऐसी वाणी नहीं मिलती जिसे सुन कर ऐसा लगे मानो मेरी ही वाणी हो, सदा की दैव वाणी हो जैसे।

हमारे देश के युवकों में किसी-किसी को देखा है, आधुनिक अंग्रेजी काव्य को सिर्फ समझना ही नहीं बल्कि उसे हृदयंगम करना भी जानते हैं। इसलिये यूरोप का आधुनिक साहित्य इनके और भी निकटतर हो सकता है। अस्तु, इनके मन्त्र को ही इस साहित्य के बारे में मूल्यवान समझ कर श्रद्धा होती है। फिर भी एक संशय मन में रह जाता है।

मैं यह कहता हूँ कि विज्ञान मनुष्य के निकट प्राकृतिक सत्य है जो ज्ञान की भित्ति को बदलता रहता है, किन्तु मनुष्य का आनन्द-लोक समय-समय पर अपना सीमान्त अवश्य विस्तार कर सकता है, लेकिन भित्ति नहीं। सौन्दर्य, प्रेम, महत्त्व जिससे मनुष्य स्वभावतः उद्बोधित हुआ है, उसकी उम्र की सीमा नहीं है; कोई आइन्स्टाइन आकर उसे अप्रतिपन्न नहीं कर सकता या यह नहीं कह सकता 'बसन्त के पुष्पोच्छ्वास में जिसे आनन्द होता है वह किसी जमाने का फिलिस्टाइन है।'

यदि किसी विशेष युग के आदमी यह कहने लग जायं, यदि सुन्दर को विद्रूप करने में उन्हें कोई हिचक न हो, यदि पूजनीयों को अपमानित करने का उग्र उत्साह उनमें हो तो यह कहना होगा, यह मनोभाव चिरन्तन मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। साहित्य सब देश में यही प्रमाणित करता है कि मनुष्य का आनन्द-निकेतन सब से पुराना है। कालिदास के मेघदूत में मनुष्य अपने चिरपुरातन विरह-वेदना का ही स्वाद पाकर आनन्दित है। उसी चिरपुरातन का चिरनूतन रूप वहन करता है मनुष्य का साहित्य, मनुष्य की शिल्प-कला। इसीलिये मनुष्य का साहित्य, मनुष्य की शिल्पकला सर्वमानवीय है। तभी बार-बार मेरे मन में यही बात उदय होती है, कि वर्त्तमान अंग्रेजी-काव्य उद्भूत भाव से प्राचीन है, पुरातन के

विरुद्ध विद्रोही भाव से नवीन। लेकिन इस नवीनता की अभ्यर्थना करके यह नहीं कह सकता :

> जनम अवधि हम रूप नेहारनु
> नयन न तिरपित भेल,
> लाख-लाख युग हिये-हिये राखनु
> तब हिया जुड़न न गेल।

उसे सचमुच नवीन समझ कर भ्रम में न पड़े, वह अपने जन्म-मुहूर्त्त से ही ज्वरा लेकर आया है, उसके जन्म-स्थान पर जो शनि है वह चाहे जितना ही उज्ज्वल हो, लेकिन आखिर है तो शनि ही !

साहित्य और सभ्यता

आप लोगों ने देखा होगा कि विलायती पत्रों में आजकल साहित्य-रस का विशेष अभाव देखा जा रहा है। आदि से अन्त तक केवल राज-नीति और समाज-नीति ही रहती है। मुक्त वाणिज्य, कपड़े की दूकान, सूदान की लड़ाई, घूँस लेने के बारे में नया कानून आदि की चर्चा ही अधिक रहती है। अच्छी रचनायें बहुत कड़े दामों में मिलती हैं। इससे साहित्य का सम्मान होता है या साहित्य की दुर्मूल्यता प्रमाणित होती है, यह कोई नहीं कह सकता। 'स्पेकटेट्र रयाम्बलर' प्रभृति पत्रों से आज के पत्रों की तुलना करके देखिये कि उस वक्त साहित्य का कितना प्रबल नशा था! जेफ्रि, डिकुइन्स, हैजलिट्, आदि। लेहैन्ट, लैम्ब के समय में भी साहित्य की निर्झरिणी कैसी अबोध गति से प्रवाहित होती थी! किन्तु आधुनिक अंग्रेजी पत्रों में साहित्य की गति रुद्ध क्यों दिखती है? ऐसा लगता है कि पहले से साहित्य का मूल्य बढ़ रहा है, किन्तु उसकी खेती कम हो रही है। इसका क्या कारण है?

मैं समझता हूँ कि इंग्लैंड में काम-काज की भीड़ अधिक हो गई है। राज्य और समाजतंत्र अधिकतर जटिल होता जा रहा है। इतनी वर्त-मान समस्याओं में, इतनी बातें जमा हो रही हैं कि जो नित्य है, जो मानव की चिर-काल की वाणी हैं, जिन अनन्त प्रश्नों की मीमांसा का भार एक युग अन्य युग पर अर्पण करके चला जाता है, मानव-आत्मा की गंभीर वेदना प्रकाशित होने का अवसर नहीं पातीं। चिर-नवीन चिर-प्रवीण प्रकृति अपना निविड़ रहस्य-मय सौंदर्य लिये

पहले की तरह ही देख रहा है, चारों ओर वह श्यामल तरु-पल्लव, काल की गुपचुप रहस्य कथा की तरह अरण्य की वह गम्भीर ध्वनि, नदी की वह प्रवाह मय और चिर अवसर पूर्ण-कलकल ध्वनि, प्रकृति की अविराम विचित्र वाणी अभी भी निःशेष नहीं हुई है। किन्तु जिसे आफिस की जल्दी है, फाइलों में जिसका मन उलझा पड़ा है, वह कहेगा: 'दूर करो तुम्हारी प्रकृति का महत्त्व, तुम्हारा समुद्र और आकाश, तुम्हारा मानव, हृदय और उसका सहसूबाही सुख, दुःख घृणा और प्रीति, तुम्हारा महत्त्व मनुष्यत्वपूर्ण का आदर्श और गम्भीर रहस्य पिपासा, इस वक्त हिसाब छोड़ कर और कुछ नहीं हो सकता।' में समझता हूँ कि कल-कारखानों की हलचल में अंग्रेज लोग विश्व-संगीत-ध्वनि के प्रति मनोयोग नहीं दे पा रहे हैं; उसकी उपस्थित समस्याएं ही टिड्डी-दल की तरह अनन्त काल को आच्छन्न कर रही हैं।

सृष्टि के साथ साहित्य की तुलना होती है। इस असीम सृष्टि का कार्य असीम अवसर में निमग्न है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र आदि पद्म की तरह धीरे-धीरे विकसित हुये हैं। कार्य का अन्त नहीं है और जल्दी भी नहीं है। बसन्त के एक शुभ प्रभात के लिये शुभ चमेली सृष्टि के किसी अन्तःपुर में बैठी होगी, वर्षा की मेघस्निग्ध सन्ध्या के लिये एक शुभ जूही एक वर्ष तक अपना पूर्व जन्म यापन करती है। साहित्य भी उसी तरह अवक्षर में जन्म लेता है। इसके लिय बहुत-सा आकाश, बहुत-सा सूर्य-लोक, बहुत-सी श्यामल भूमि की आवश्यकता होती है। कार्यालय के पक्के फ़र्श को भेद कर जिस तरह माधवी लता की बेल नहीं निकल सकती, उसी तरह साहित्य भी हर कहीं से नहीं उगता है।

उत्तरोत्तर व्यापमान विस्तृत राज्यभार, जटिल कर्त्तव्य शृङ्खला, असंख्य राजनैतिक मतभेद और क्रूर तर्क, वाणिज्य का जूआ, जीवन-संग्राम आदि से अंग्रेज का मानव-हृदय भरा हुआ है। उसमें और स्थान नहीं है, साथ ही समय भी नहीं है। साहित्य के बारे में यदि कुछ कहना है तो संक्षेप में कहो, और संक्षेप में ही लिखो। प्राचीन साहित्य और

विदेशी साहित्य से सार-संकलन कर के उसी से काम चलाओ । किन्तु साहित्य का सार संकलित नहीं किया जा सकता । इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि का सार-संकलन किया जा सकता है । मालती लता को ऊखल में कूट कर उसका पिंड बना लिया जाय तो उसे मालती लता का सार नहीं कहा जा सकता । मालती लता का हिल्लोल, उसका बाहु-बंधन, उसकी प्रत्येक शाखा-प्रशाखा की भंगिमा, उसका पूर्ण यौवनभार, खरल में कूटना अंग्रेज के लिए भी असाध्य है ।

यह प्रायः ही देखा जाता है कि जिसके कंधों पर अतिरिक्त कार्य-भार रहता है वह थोड़ा नशे का आदी होता है । काम के बाद जो थोड़ी सी फुर्सत मिलती है उसमें उत्कट आमोद न करने पर तृप्ति नहीं मिलती जैसा उत्कट कर्म रहता है, वैसा ही उत्कट आनन्द भी तो होना चाहिये । किन्तु विशुद्ध साहित्य में नशे की तीव्रता नहीं होती । बढ़िया पेड़े में जैसे अधिक चीनी नहीं रहती, उसी तरह उन्नत साहित्य में प्रचंड वेग और माधरी तो रहती है लेकिन उग्र मादकता नही रहती । इसी लिये अतिशय व्यस्त लोगों के पास साहित्य का आदर नही पाता । उन्हें नशा चाहिये । इंग्लेंड में देखो, खबर का नशा है । इस नशे की हम कल्पना भी नहीं कर सकते । खबर पाने के लिये लोगों में एक तरह की भगदड़-सी लगी रहती है । जिस खबर को दो घण्टे बाद पाने में भी कोई नुकसान नहीं होता, उसे दो घंटे पहले प्राप्त करने के लिये- इंग्लैंड अपना धन-प्राण विसर्जन कर रहा है । सारी पृथ्वी की खबरें ढूँढ़-ढूढ़कर इंग्लैंड अपने द्वार पर स्तूप खड़ा कर रहा है । उन खबरों को प्रतिदिन इंग्लंड वासी आबालवृद्ध व पिता सुबह की चाय के साथ परम आनन्द से उपभोग करते हैं । दुर्भाग्य से साहित्य में ऐसी कोई खबर नहीं मिलती । क्योंकि अधिकांश साहित्य में ऐसी खबरें ही रहती हैं जिन्हें अधिकांश लोग जानते हैं ।

उपस्थित घटनाओं में जैसा नशा रहता है, स्थायी विषय में वैसा नहीं रहता । किसी परिवार का गृह-युद्ध जितना बड़ा लगता है, कुरुक्षेत्र

का युद्ध भी उतना नहीं लगता। जब किसी संस्था के मन्त्री महोदय, काली अचकन पहन कर, हाथ में छाता और सर पर गाँधी टोपी लगा-कर, चंदे का खाता लिये इधर-उधर देखते हैं तो लोग यह सोचते हैं कि दुनिया के सारे काम-काज बन्द पड़े हैं। जब कोई आर्य, किसी अन्य आर्य को अनार्य प्रमाणित करने के लिये गला फाड़ता है तो यह भूल जाता है कि उसकी सभा के बाहर भी कोई जगत् था और अब भी है। इंग्लेंड में न मालूम और भी क्या-क्या हो रहा है। वहाँ विश्वव्यापी कारखाने और देश व्यापी दलादली लेकर न जाने कैसी मत्तता चल रही है वहाँ यदि वर्तमान ही दानव का आकार लेकर नित्य को ग्रास करने लगे तो क्या आश्चर्य है।

वर्त्तमान के साथ अनुराग से संलग्न होकर रहना तो मनुष्य का स्वभाव और कर्त्तव्य है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता : किन्तु वर्त्तमान की अतिशयता से मनुष्य का सब कुछ दब जाना ही ठीक नहीं है। वृक्ष का थोड़ा-सा हिस्सा जमीन के भीतर रहना चाहिए, यह जान कर सारे वृक्ष को ही जमीन में गाड़ देना ठीक नहीं है। उसके लिये बहुत सा मुक्त स्थान और आसार चाहिये। जिस जमीन में मानव निक्षिप्त हुआ है, उसे भेद कर बहुत ऊपर उठना पड़ेगा तभी उसके मनुष्यत्व की साधना होगी। किन्तु क्रमागत ही वह यदि तल पर पड़ा रहे, उस पर धूल का ढेर जमा होता रहे, उसे यदि आकाश में उठने का अवसर ही नहीं मिले तो उसकी क्या दशा होगी ?

जिस प्रकार बद्ध गृह में रहने पर मुक्तवायु आवश्यक है, उसी तरह सभ्यता के सहस्र बंधन की अवस्था में विशुद्ध साहित्य की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता के नियम, सभ्यता का कृत्रिम बंधन जितना ही जटिल होता है—हृदय का हृदय से स्वाधीन मिलन, प्रकृति के अनंत क्षेत्र में कुछ देर के लिये लिप्त हृदय की छुट्टी भी उतनी ही आवश्यक होती है। साहित्य ही वह मिलन का स्थान है, साहित्य ही मानव-हृदय में उस ध्रुव असीम का विनाशहै। बहुत से पंडित ऐसी भविष्यवाणी करते हैं कि

सभ्यताके विस्तार के साथ साथ साहित्य का विनाश होगा। सिर्फ पक्का रास्ता ही मनुष्य के लिये आवश्यक हो, ऐसी बात नहीं है, श्यामल क्षेत्र उससे भी अधिक आवश्यक है। प्रकृति में सर्वत्र पत्थर से यदि पक्की सड़कें बनादी जाएं तो सभ्यता की वृद्धि में संदेह नहीं रहता, किन्तु यह अतिवृद्धि ही उसके सर्वनाश कारण होती है।

लन्दन का शहर अत्यन्त सभ्य है, यह कौन अस्वीकार कर सकता है किन्तु यह लन्दन रूपी सभ्यता यदि दैत्यशिशु की तरह बढ़ती रहे और सारे द्वीप पर छा जाय तो वहाँ मानव कैसे ठहर सकता है। मानव तो किसी वैज्ञानिक का बनाया हुआ यंत्र नहीं है।

दूर से इंग्लैंड के साहित्य और सभ्यता के बारे में कुछ कहना मेरे लिये अनधिकार चर्चा है। और इस विषय पर अभ्रान्त विचार करना भी मेरा उद्देश्य नहीं है और न मुझ में वैसी योग्यता ही है। मैंने केवल दो एक लक्षण दे कर, राज्य की अभ्यन्तरीण अवस्था से लिप्त न रह कर, बाहरी आदमी के मन में जो विचार सहसा उत्पन्न होते हैं, उन्हें ही लिखा है और इस अवसर पर साहित्य के बारे में अपने विचार और भी स्पष्ट रूप में व्यक्त किए हैं।

साहित्य का उद्देश्य

विषयी लोग विषय की खोज में रहतेहैं। लेख देखते ही पूछते हैं, विषय क्या ह ? लेकिन लिखने के लिये विषय ही चाहिये, ऐसी कोई बात नहीं है। विषय हो तो ठीक है, न रहे तो भी ठीक है। साहित्य का इस में कोई नुकसान नहीं है। विशुद्ध साहित्य का प्राण विषय में नहीं रहता है प्रकृत साहित्य में से उसका केवल उद्देश्य निकाल लेना सरल नहीं है। मनुष्य के सर्वांग में प्राण का विकास है—इस प्राण को नष्ट करने के लिये विभिन्न देशों में नाना प्रकार के अस्त्र हैं किन्तु देह में से केवल प्राण को स्वतन्त्र रूप में निकाल सके, ऐसा कोई अस्त्र नहीं निकला है।

हमारी भाषा के साहित्य समालोचक-गण आज कल लेख देखते ही उसका उद्देश्य बाहर खींच लाना चाहते है। मेरी समझ में इसका प्रधान कारण यह है कि कोई एक उद्देश्य मिले बगैर इन्हें लिखने का मसाला नहीं मिलता है। जो गुरूजी बाल पकड़ कर नोचते हैं, सहसा छात्र का मुंडित मस्तक उनके अत्यन्त शोक का कारण हो जाता है ।

यदि आप अत्यन्त बुद्धि के प्रभाव से कह बैठते हैं, यह 'तरंग भंगमय' यह चूर्ण-विचूर्ण सूर्यलोक से खचित, अविश्राम प्रवाहमान जाह्नवी का सारा पानी सोख कर केवल दूसरा विषय ही लूँगा, और इस उद्देश्य से प्रबल अध्यवसाय के साथ आप यदि जाह्नवी का पानी निकालने लगें तो इस परिश्रम के पारिश्रमिक स्वरूप विपुल वाष्प और पंक के अधिकारी होंगे—किन्तु कहाँ तरंग, कहाँ सूर्य-लोक। कहाँ कल-ध्वनि ! कहाँ जाह्नवी का प्रवाह !

उद्देश्य को टटोलने से कुछ न कुछ जरूर मिलता है। जैसे गंगा के नीचे ढूँढ़ने पर उसके कीचड़ में से भी मछली मिल सकती है। धीवर के लिये क्या यह कम लाभ है? किन्तु मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मछली न रहने पर भी गंगा में मूलगत कोई प्रभेद नहीं होता। लेकिन गंगा में प्रवाह नहीं है, गंगा में तरंग नहीं है, गंगा की प्रशान्त प्रबल उदारता नहीं है, ऐसा यदि गंगा का रूप है, तो वह गंगा ही नहीं है। फिर प्रवाह को आयत्त नहीं किया जा सकता, गंगा का प्रशान्त भाव केवल अनुभव किया जा सकता है—किसी तरह भी उसे जमीन पर नहीं लाया जा सकता। उपयुक्त मछली को गंगा में साधारणतः सहज में पकड़ा जा सकता है। अतः बिषयी समालोचक के लिये मछली का हिसाब करना ही सबसे सुविधाजनक है।

विशुद्ध साहित्य में उद्देश्य के रूप में जो चीज सामने आती है, वह आनुषंगिक है। और वह क्षणस्थायी है। जिसका उद्देश्य है उसका दूसरा नाम, अथवा कोई एक विशेष तत्त्व का निर्णय या किसी एक विशेष घटना का वर्णन—जिस साहित्य में उद्देश्य मुख्य है उसकी प्रकृति के अनुसार उसे दर्शन-विज्ञान या इतिहास अथवा और भी कुछ कहा जा सकता है। किन्तु उसमें साहित्य का उद्देश्य नहीं है।

ऐतिहासिक रचना को कब साहित्य कहेंगे? जब यह निश्चित हो जाए कि उसका ऐतिहासिक अंश मिथ्या प्रमाणित होने पर भी वह जीवित रह सकती है। अर्थात् जब यह जान लेंगे कि इतिहास केवल उपलक्ष्य है, लक्ष्य नहीं। दार्शनिक, वैज्ञानिक प्रभृति अन्य विभागों पर भी यह नियम लागू होता है।

सृष्टि का उद्देश्य पाया नहीं जाता, निर्माण का उद्देश्य पाया जा सकता है। फूल क्यों खिलता है, यह अनुभव करना क्या साध्य है? किन्तु ईंट की भट्टी क्यों जलती है, सिमेंट का कारखाना क्यों चलता है, यह सभी जानते हैं। साहित्य भी उसी तरह सृजन-धर्मी है; दर्शन,

विज्ञान प्रभृति निर्माण-धर्मी हैं । सृष्टि की तरह साहित्य ही साहित्य का उद्देश्य है।

यदि कोई उद्देश्य ही नहीं है तो फिर साहित्य से फायदा क्या ? जो लोग सब से अधिक हिसाव समझते हैं, वे ऐसा प्रश्न पूछेंगें । लेकिन इसका उत्तर देना सरल नहीं है। थोड़े से लड्डू खाने से ही रसना की तृप्ति और उदर की पूर्ति होती है, इसे प्रमाणित करना सरल है, और यदि कोई इसमें संदेह प्रकट करता है अथवा अज्ञान वश प्रतिवाद करता है, तो उसके मुँह में दो लड्डू भर कर तत्क्षण उसका मुँह बंद कर दिया जा सकता है । किन्तु समुद्र के किनारे रहने पर एक विशाल आनन्द शरीर और मन में अलक्षित रूप में प्रवेश करके स्वास्थ्य वर्द्धन करता है, इसे हाथों-हाथ प्रमाणित नहीं किया जा सकता ।

साहित्य के प्रभाव में हम हृदय के द्वारा हृदय के योग का अनुभव करते हैं, हृदय के प्रवाह की रक्षा होती है, हृदय से हृदय खेलता है और हृदय का जीवन और स्वास्थ्य संचालित रहता है। युक्ति-शृङ्खला से मानव की बुद्धि और ज्ञान में ऐक्यबंधन होता है । किन्तु उन्हें हृदय से बाँधने का कोई कृत्रिम उपाय नहीं है। साहित्य स्वतः उत्साहित हो कर यह योग-साधन करता है। साहित्य का अर्थ ही एकत्र रहने का भाव है। मानव के 'सहित' रहने का भाव—मानव को स्पर्श करना, मानव को अनुभव करना ही उसका काम है। साहित्य के प्रभाव से हृदय-हृदय में शीतातप का संचार होता है, वायु का प्रवाह, ऋतु और चक्रों का आवर्त्तन होता है, गीत और गंध का बाजार-सा लग जाता है।

हम जब अपने मित्र से मिलते हैं तो कितनी फालतू बातें करते हैं। इससे हृदय का कैसा विकास होता है। कितना हास्य ! कितना आनन्द ! परस्पर के नयनों की हर्ष-ज्योति के साथ मिलकर सूर्य-लोक कितना मधुर लगता है ! विषयी लोगों के परामर्श की तरह यदि केवल काम की बात ही कहें, प्रत्येक बात में यदि कीट की तरह उद्देश्य और अर्थ छिपा रहे तो कहाँ रहे यह हास्य, यह कौतुक, यह प्रेम, यह आनन्द ?

तब चारों ओर केवल शुष्क देह, लम्बा मुँह, क्षीण गंड, हास्यहीन शुष्क ओष्ठाधर, गड़ी हुई आँख ही नज़र आए:-मानव की उपछाया परस्पर की बात को लेकर, खरोंच-खरोंच कर, केवल अर्थ ही निकाल रही है अथवा परस्पर के मस्तक को लक्ष्य करके उद्देश्य-कठिन बातों के पत्थर फेंक रही है।

बहुधा साहित्य में ऐसे हृदय-मिलन के उपलक्ष में फालतू बातें रहती हैं। साहित्य इस तरह विकास और स्फूर्तिमात्र है। आनन्द उसका आदि, मध्य और अन्त है; आनन्द ही साहित्य का कारण और उद्देश्य है।

साहित्य की सामग्री

सिर्फ अपने आनन्द के लिये लिखना साहित्य नहीं है। बहुत से लोग कवित्व करके कहा करते हैं, जिस तरह पक्षी अपने उल्लास से ही गाता है, उसी तरह लेखक की रचना का उल्लास भी उसके आत्मगत् है। पाठक मानों उन रचनाओं को जबर्दस्ती पढ़ते हैं। पक्षी के गीत में पक्षी-समाज के लिये कोई लक्ष्य नहीं है, यह बात में जोर देकर नहीं कह सकता। न रहे तो न सही, इसे लेकर तर्क करने की कोई बात नहीं है। किन्तु, लेखक का प्रधान लक्ष्य-केन्द्र है पाठक-समाज। इसे कृत्रिम कहना पड़े, ऐसा कोई कारण नहीं है। माता के स्तन एक मात्र सन्तान के लिये हैं, तब भी उन्हें स्वतः-स्फूर्त्त कहने में कोई बाधा तो नहीं है।

नीरव कवित्व और आत्मगत् भावोच्छ्वास, साहित्य में ये दो फालतू चीजें कहीं कहीं प्रचलित हैं। जो ईंधन जलता नहीं है, उसे आग कहना और जो मनुष्य आकाश की ओर देख कर आकाश की तरह ही चुपचाप रहता है, उसे कवि कहना बराबर है। प्रकाश ही कवित्व है। मन के भीतर क्या है और क्या नहीं है, इसकी आलोचना करके बाहरी लोगों का कोई नुकसान नहीं होता। कहा जाता है, 'मिष्टान्नमितरे जनाः', भंडार के भीतर क्या है, इसका अंदाज करने में बाहर के लोगों का कोई फायदा नहीं है। उन्हें तो हाथों-हाथ-मिठाई मिलनी चाहिये। साहित्य में आत्मगत् अभ्यास वैसी ही एक वस्तु है। रचना रचयिता के अपने लिये नहीं है, यह समझना होगा और इसी अनुसार उसकी रचना का विचार करना होगा।

हमारे मन के भावों की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वे मन के

भीतर अपने को अनुभूत करना जानते हैं। प्रकृति में हम देखते हैं कि व्याप्त होने के लिये, जीवित रहने के लिये, प्राणियों में निरन्तर एक संघर्ष हो रहा है। जो जीव सन्तान के द्वारा जितने अधिक स्थान पर अधिकार करता है, वह अपनें अस्तित्व को उतना ही अधिक सत्य समझता है।

मनुष्य के मनोभावों में भी इसी तरह की एक चेष्टा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि प्राण का अधिकार देश और काल में रहता है, मनोभावों का अधिकार मन में और काल में रहता है। मनोभावों की चेष्टा काल-क्रम में मन को आयत्त करने का होती है।

यह एकान्त आकाँक्षा प्राचीन काल से कितने संकेत, कितनी भाषा, कितने पत्थरों पर खुदी हुई, कितने प्रयासों में अपने को व्यक्त करन की कोशिश कर रही है—बाँये से दाँये, दाँये से बाँये, ऊपर से नीचे, विभिन्न ओर से यह प्रयास क्यों? इसलिये कि मैंने जो चिन्ता की है, मैंने जो अनुभव किये है, वे विलुप्त नहीं होंगे ; वे एक मन से दूसरे मन में, एक काल से दूसरे काल में चिन्तित होकर, अनुभूत होकर, प्रवाहित होते रहेंगे। मेरा मकान, मेरी सामग्री, मेरा शरीर-मन, मेरे दुःख-सुख की सामग्रियाँ, सब कुछ चली जायेंगी। केवल मैंने जो सोचा है, जो चिन्ता की है, वह चिरकाल के मनुष्य की चिन्ता है, इस लिये वह उनके आश्रय में सजीव संसार के बीच जीवित रहेगी।

मध्य एशिया की मरुभूमि के बालू-स्तूप के नीचे से जब विलुप्त मानव-समाज की प्राचीन जीर्ण पोथियाँ मिलीं तो उनकी भाषा के अपरिचित अक्षरों में कैसी एक गम्भीर वेदना थी। नहीं मालूम, कौन से युग के सजीव चित्त की चेष्टा आज हमारे मन में प्रवेश करने के लिये आकुल हो रही है। जिसने लिखा था वह नहीं है, जिस लोकालय में लिखा था वह भी नहीं है; किन्तु मनुष्य के मन के भाव मनुष्य के दुःख-सुख में लीन होने के लिये युग-युगान्तर से अपना परिचय नहीं दे पा रहे हैं, केवल अपने दोनों बाहु बढ़ा कर मुँह की ओर देख रहे हैं। जगत् के सर्व श्रेष्ठ सम्राट अशोक अपनी जिन बातों को चिरकाल के

लिये श्रुतिगोचर कराना चाहते थे उन्हें उहोंने पहाड़ के गात्र पर खोद दिया था। उन्होंने सोचा था कि पहाड़ अभी नहीं मरेगा, उसका स्थानान्तर भी नहीं होगा, अनन्त काल के पथ के किनारे अचल खड़ा नव-नव युग के पथिकों को एक ही वाणी सुनाता रहेगा। पहाड़ को उन्होंने बोलने का अधिकार दिया था।

पहाड़ कालक्रम से उनकी भाषा वहन करता आ रहा है। कहाँ सम्राट अशोक, कहाँ पाटलिपुत्र, कहाँ धर्म-जाग्रत भारतवर्ष के गौरव के वे दिन! किन्तु पहाड़ उन दिनों की वह स्मृति भाषा में आज भी उच्चारण कर रहा है। कितने दिनों तक अरण्य-रोदन किया है! अशोक की वह महावाणी भी कितने सैंकड़ों वर्षों तक मानव-हृदय को केवल गूँगे की तरह इशारों से बुलाती आई है। रास्ते से राजपूत गये, पठान गये, मुगल गये,—लेकिन किसी ने उसके इशारे को नहीं समझा। समुद्र पार के जिस क्षुद्र द्वीप की बात भी अशोक ने नहीं सोची थी, उसके शिल्पी जब पाषाण पर उनके अभिलेख खोद रहे थे तो जिस द्वीप के अरण्यचारी 'द्रयिद'-गण अपनी पूजा के आवेग को भाषाहीन प्रस्तर-स्तूप की स्तुति में कर रहे थे, कई हजार वर्ष के बाद उसी द्वीप से एक विदेशी ने आकर कालान्तर के उस मूक इंगितपाश से अपनी भाषा का उद्धार किया। राज चक्रवर्ती अशोक की इच्छा इतने दिनों बाद एक विदेशी की सहायता से सार्थक हुई।

यह कहकर मैं अशोक के अभिलेखों को साहित्य नहीं कह रहा हूँ। इनसे सिर्फ इतना ही प्रमाणित होता है कि मानव-हृदय की प्रधान आकांक्षा क्या है? हम मूर्त्ति बनाते हैं, चित्र आँकते हैं, कविता लिखते हैं, पत्थरों के मन्दिर बनाते हैं, देश-विदेश में यह जो चेष्टा चल रही है यह और कुछ नहीं है, मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय के लिये अमरता प्रार्थना कर रहा है। जो चिर-कालीन मनुष्य के हृदय में अमर होने की चेष्टा करता है, साधारणतः वह हमारे क्षणकालीन-प्रयोजन और चेष्टा के द्वारा पृथक हो जाता है। हम प्रति-वर्ष प्रयोजन के अनुसार धान, गेहूँ

जो आदि बोते हैं, किन्तु यदि अरण्य की प्रतिष्ठा करना चाह तो वनस्पति के बीज संग्रह करने पड़ेंगे।

साहित्य में यही चिरस्थायी चेष्टा मनुष्य का प्रिय लक्ष्य है। इसलिये देश के हितैषी समालोचक चाहे जितने ही उत्तेजित होकर कहें कि देश में सारवान् साहित्य का अभाव होरहा है, केवल नाटक, उपन्यास और काव्य से देश भर गया है तो भी लेखकों को होश नहीं होगा। क्योंकि सारवान् साहित्य से वर्तमान का प्रयोजन मिट सकता है, किन्तु अप्रयोजनीय साहित्य में स्थायित्व की संभावना अधिक है।

जो ज्ञान की बात है, उसका प्रचार होने पर ही उसका उद्देश्य सफल हो । मनुष्य का ज्ञान, नये आविष्कार के द्वारा, पुराने आविष्कारों को आच्छन्न कर देता है। पहले जो बात पंडितों के लिए अगम्य थी आज वह साधारण बालक भी जानता है। जो सत्य नये भेष में विप्लव लाता है, वही सत्य पुराने भेष में विस्मय-मात्र की सृष्टि नहीं करता। आज जो तत्व एक मूढ़ भी जानता है, वे ही तत्व कभी किसी समय पंडितों को अगम्य थे, यही सोचने पर आश्चर्य होता है। किन्तु, हृदय के भाव प्रचार द्वारा पुराने नहीं होते हैं।

ज्ञान की बात एक बार जान लेने के बाद दूसरी बार उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती। आग गरम है, सूर्य गोल है, पानी तरल है आदि को एक बार जान लेना ही यथेष्ट है। द्वितीय बार यदि कोई हमें उन बातों की पुनरावृत्ति करके सुनाये तो धैर्य रखना कठिन हो जाता है। किन्तु भाव की बात बार-बार सोचने पर भी शान्ति नहीं होती है। सूर्य पूर्व में उदय होता है, यह बात अब हमारे मन को आकर्षित नहीं करती, किन्तु सूर्योदय का जो सौन्दर्य और आनन्द है वह जीव-सृष्टि के बाद से आज तक हमारे निकट अम्लान है। यहाँ तक कि अनुभूति जितने प्राचीन काल से और जितनी लोक-परम्परा के भीतर से आती है, उसकी गम्भीरता भी उतनी ही अधिक होती है।

अतः मनुष्य यदि चिरकाल के लिये अपनी कोई वस्तु अमर करना

चाहे तो उसे भाव का आश्रय लेना पड़ता है। इसीलिये साहित्य का प्रधान विषय ज्ञान नहीं है, वह भाव का विषय है।

इसके अलावा जो ज्ञान की वस्तु है उसे एक भाषा से दूसरी भाषा में स्थानान्तर किया जा सकता है। मूल रचना से उसे दूसरी रचना में निविष्ट करने पर उसकी ज्जवलता बढ़ती है उसका विषय लेकर विभिन्न भाषाओं में प्रचार किया जा सकता है। इस तरह उसका उद्देश्य यथार्थ रूप में सफल हुआ करता है। किन्तु भाव के विषय में यह बात नहीं है। वह जिस मूर्त्ति में आश्रित है, उससे उसे विच्छिन्न नहीं किया जा सकता।

ज्ञान के विषय को प्रमाणित करना पड़ता है और भाव के विषय का संचार करना पड़ता है। उसके लिये विभिन्न प्रकार के आभास, इंगित, नाना प्रकार के कौशल, जानने पड़ते हैं। उसे केवल समझाने से ही नहीं होगा, उसकी सृष्टि करनी पड़ती है।

यह कला-कौशलपूर्ण रचना भाव के देह की तरह है। इसकी देह में, भाव की प्रतिष्ठा में, साहित्यकार का परिचय रहता है। इस देह की प्रकृति और गठन के अनुसार ही उसका आश्रित भाव मनुष्य के के पास आदृत होता है। अपनी शक्ति के अनुसार ही यह भाव हृदय और काल में व्याप्त होता है।

प्राण की वस्तु देह पर एकान्त रूप से निर्भर करती है। पानी की तरह उसे एक पात्र से दूसरे पात्र में नहीं डाला जाता। देह और प्राण एकात्म होकर विराजते हैं।

भाव, विषय, तत्त्व, साधारण मनुष्य के हैं। इन्हें एक आदमी यदि नहीं निकाल सके तो कालक्रम में दूसरा जरूर निकालेगा। लेकिन रचना लेखक की सम्पूर्ण अपनी है। यह एक लेखक की जैसी होगी, दूसरे की वैसी नहीं होगी। इसलिए रचना में ही लेखक यथार्थ रूप में जीवित रहता है, भाव अथवा विषय में नहीं।

रचना भाव के साथ भाव प्रकाश का साधन भी समझा जाता है; लेकिन विशेष रूप में साधन ही लेखक का अपना होता है।

तालाब कहने पर पानी और खोदना दोनों ही भाव एक साथ सामने आ जाते हैं। किन्तु कीर्ति किस में है ? पानी मनुष्य ने नहीं बनाया है, वह चिरन्त है। उस पानी को विशेष रूप से सब के लिये सुदीर्घ काल तक रक्षित करने का जो साधन है वही कीर्ति-यान मनुष्य का अपना है। उसी प्रकार भाव भी साधारण मनुष्य का है। किन्तु उसे विशेष मूर्ति में सर्व लोक के आनन्द की सामग्री बनाने में ही लेखक की कीर्ति है।

अत: यह स्पष्ट है कि भाव को अपना कर उसे सब का बना देना ही साहित्य है, ललित कला है। अंगार जल में, स्थल में, सर्वत्र ही है। वृक्ष आदि उसे ग्रहण करके अपना बना लेते हैं, फिर वही सर्व साधारण के भोग का द्रव्य होता है। इसी तरह साधारण वस्तु को पहले विशेष रूप से अपना कर पुन: विशेष रूप से साधारण कर देना ही साहित्य का काम है।

यदि यह सत्य ह तो ज्ञान की वस्तु साहित्य से अपने आप बाद हो जायगी। क्यों कि अंग्रेजों में जिसे 'ट्रूथ' कहा जाता है और हिंदी में हम जिसे 'सत्य' कहते हैं, वह हमारी बुद्ध के अविगम्य है। उसे व्यक्ति विशष के निजत्व से वर्जित रखना ही एकान्त जरूरी है। क्यों कि सत्य सम्पूर्ण व्यति निरपेक्ष और शुभ्र निरंजन है।

जो चीजें दूसरे के हृदय में संचरित होने के लिये प्रतिभा शाली हृदय से सुर-रंग इंगित माँगती हैं जो हमारे हृदय से सृष्टि न होने पर दूसरे हृदय में प्रतिष्ठा प्राप्त नही कर सकतीं, वही साहित्य की सामग्री है। वह आकार में, प्रकार में, छन्द में, स्वर में मिलकर ही जीवित रह सकती है ; वह मनुष्य की अपनी है, उसका आविष्कार नहीं है, अनुकरण नहीं है, उसकी सृष्टि है। वह एक बार, प्रकाशित हो उठने पर, उसका रूपान्तर अवस्थान्तर नहीं होता। उसके प्रत्येक अंश पर उसकी समग्रता निर्भर करती है। जहाँ नहीं करती वहाँ साहित्य के अंश में वह हेय है।

साहित्य का तात्पर्य

बाहर का जगत् हमारे मन में जाकर एक और जगत् हो जाता है। उसमें बाहरी जगत् का रंग, आकृति, ध्वनि प्रभृति ही नहीं, उसके साथ हमारी अनुभतियाँ विभिन्न रूप में जटित हैं-वह हमारी हृदय-वृत्ति के विभिन्न रसों से नाना भावों में आभासित हो उठता है।

इस हृदय-वृत्ति के रस से हम बाहरी जगत् को विशेष रूप से अपना बना लेते हैं। जैसे पेट में पचाने वाला रस यदि पर्याप्त न रहे तो खाद्य हजम नहीं होता उसी तरह हृदयवृत्ति के रस को जो लोग पर्याप्तरूप में जगत्-क्षेत्र में प्रयोग नहीं करते हैं वे बाहरी जगत् को अन्तर का जगत्, अपना जगत्, मनुष्य का जगत् नहीं बना सकते।

किसी-किसी मनुष्य की प्रकृति ऐसी होती है कि वह दुनियाँ के बहुत थोड़े कामों में उत्सुक रहता है। ऐसी प्रकृति को जड़ प्रकृति कहते हैं। ऐसे लोग दुनियाँ में जन्म लेकर भी अधिकांश जगत् से बंचित रहते हैं। उनके हृदय के गवाक्ष संख्या में बहुत थोड़े तथा विस्तृति में संकीर्ण होने के कारण वे विश्व के बीच भी प्रवासी के रूप में रहते हैं।

ऐसे सौभाग्यवान लोग भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है। प्रकृति के कोने-कोने में उनका निमंत्रण रहता है। लोकालय के नाना आन्दोलन उनकी चित्त-वाणी को नाना रागि-नियों में स्पंदित रखते हैं।

इनके मन में हृदय-वृत्ति के नाना रसों, नाना रंगों और नाना प्रकारों में बाहरी जगत प्रस्तुत हो उठता है।

भावुक-मन का यह जगत, बाहरी जगत से, मनुष्य का अधिक अपना

है। हृदय की सहायता से मनुष्य हृदय के लिये वह अधिक सुगम हो उठता है। हमारे चित्त के प्रभाव से वह जो विशेषत्व प्राप्त करता है, वही मनुष्य के लिये परम उपादेय है।

अतः देखा जा सकता है कि बाहरी जगत से मानव का जगत दूसरा है। उसमें प्रभेद है। इस जगत का प्रवाह मनुष्य के हृदय में है। यह प्रवाह पुराना और नित्य नवीन है-नव-नव इंद्रियों, नव-नव हृदयों से यह सनातन श्रोत चिरकाल नवीभूत होता जाता है।

किन्तु इसे पाया कैसे जा सकता है? इसे पकड़ रखने की तरकीब क्या है? इस अपूर्व मानस-जगत को रूप से पुर्नवार बाहर प्रकाश न कर सकने के कारण यह सर्वदा सृष्ट और सर्वदा नष्ट होता रहता है। किन्तु यह नष्ट नहीं होना चाहता। हृदय का जगत अपने को व्यक्त करने के लिये व्याकुल रहता है। तभी चिरकाल से मनुष्य में साहित्य का आवेग है।

साहित्य का विचार करते वक्त दो बातें देखनी होती हैं। प्रथम, विश्वपर साहित्यकार के हृदय का अधिकार कितना है; द्वितीय वह स्थायी आकार में कितना व्यक्त हुआ है।

इन दोनों में सर्वदा सामंजस्य नहीं रहता। जहाँ रहता है, वहाँ सोने में सुगन्ध होती है।

कवि का कल्पना-सचेतन हृदय जितना विश्वव्यापी होता है, उतना ही उनकी रचना की गभीरता में हमारी परितृप्ति होती है। उतता ही मानव-विश्व की सीमा का विस्तार होता है, और हमारे चिर-बिहार क्षेत्र की विपुलता बढ़ती है।

किन्तु रचना शक्ति का नैपुण्य भी साहित्य में महा मूल्यवान है। क्योंकि जिसे अवलम्बन करके वह शक्ति प्रकाशित होती है वह अपेक्षा-कृत तुच्छ होने पर भी यह शक्ति एकदम नष्ट नहीं होती। वह भाषा में, साहित्य में, संचित होकर रहती है। इससे मानव की प्रकाश-क्षमता बढ़ती है। इस क्षमता के लिये मानव चिरकाल से व्याकुल है। जिन

कृतियों की सहायता से मनुष्य की यह क्षमता परिपुष्ट होती है, मनुष्य उन्हें यशस्वी करके उनका ऋण परिशोध करने की चेष्टा करता है।

जो मानस जगत् हृदय-भाव के उपकरणों से अन्तरमें सृष्ट होता हे, उसे बाहर प्रकाशित कैसे किया जा सकता है ?

उसे इस तरह प्रकाश करना पड़ेगा जिससे हृदय के भाव आन्दोलित हों।

हृदय के भावों को आन्दोलित करने में साज-सामान बहुत लगता है।

पुरुष के आफिस के कपड़े साधारण बनावट के ही होने चाहिये, उनमें जितना बाहुल्य वर्जन किया जायेगा उतना ही वे उपयोगी होंगे। स्त्रियों की वेश-भषा, शर्म-लाज, भाव-भंगिमा, सभी कुछ सभ्य समाजों में ही प्रचलित है।

लड़कियों को हृदय देना पड़ता है और हृदय आकर्षित करना पड़ता है इसलिये उनके लिये नितान्त सरल आडम्बर हीन होना सम्भव नहीं है। पुरुषों के लिए यथावत् होना आवश्यक है। किन्तु लड़कियों को सुन्दर होना चाहिये। पुरुष का व्यवहार सुस्पष्ट होने से ठीक रहता है, किन्तु लड़कियों के व्यवहार में बहुत से आवरण-आभास-इंगित रहने चाहिये

साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल बनाने के लिये अलंकार का, रूपक का, छन्द का, आभास का, इंगित का आश्रय लेता है। दर्शन-विज्ञान की तरह निरलंकार होने से उसका काम नहीं चलता।

आप रूप को रूप के द्वारा व्यक्त करते वक्त वचन में अनिर्वचनीयता की रक्षा करनी होती है। नारी के लिए जैसे श्री, साहित्य के लिए अनिर्वचनीयता भी वैसी ही होती है। वह अनुकरण के अतीत होती है। वह अलंकार का अतिक्रम कर जाती है, उससे आच्छन्न नहीं होती।

भाषा में इस भाषातीत को प्रतिष्ठित करने के लिए साहित्य साधारणतः दो वस्तु मिलाया करता है, चित्र और संगीत !

जिसे वाक्यों से नहीं प्रकाश किया जा सकता, उसे चित्र से कहा

जाता है। साहित्य में चित्र-अंकन की सीमा नहीं है। उपमा, तुलना और रूपक के द्वारा भाव प्रत्यक्ष होना चाहते हैं। देखि बारे आँखि-पाखि धाय (देखने के लिये आँखें पक्षी की तरह धावित होती हैं), इस एक वाक्य में बलरामदास ने क्या नहीं कह दिया है? व्याकुल दृष्टि की व्याकुलता केवल मात्र वर्णन से कैसे व्यक्त होगी? दृष्टि पक्षी की तरह उड़ती है, इस चित्र में प्रकाश करने की बहुतेरी व्याकुलतायें मुहूर्त भर में शान्त होगई हैं।

इसके अलावा छन्द में, शब्द-विन्यास में, साहित्य को संगीत का आश्रय लेना ही पड़ता है। जिसे किसी तरह भी कहा नहीं जा सकता, इस संगीत के द्वारा ही वह कहा जा सकता है। अर्थ-विश्लेषण करने से जो बात सामान्य लगती है, वही संगीत में असामान्य हो उठती है। अतः चित्र और संगीत साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देते हैं, और संगीत भाव को गति देता है।

किन्तु, केवल मनुष्य के हृदय में ही साहित्य को पकड़ कर रखा जाय, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य के चरित्र में भी एक ऐसी सृष्टि है जो जड़ सृष्टि की तरह हमारी इन्द्रियों के आयत्तगम्य नहीं है। इसे खड़ा होने के लिये कहने पर वह खड़ी नहीं होगी। वह मनुष्य के लिये पद्म और औत्सुक्यजनक है, किन्तु उसे पकड़ कर पशुशाला के पशु की तरह पिंजरे में बंद करके पहचाना जा सके, ऐसा कोई उपाय नहीं है।

इस पकड़-धकड़ के अतीत विचित्र मानव-चरित्र को भी साहित्य अन्तर-लोक से निकाल कर बाहरी लोक में प्रतिष्ठित करना चाहता है। किन्तु यह बड़ा कठिन काम है। क्योंकि मानव-चरित्र स्थिर नहीं है, सु-संगत नहीं है; उसके बहुत से अंश, बहुत से स्तर हैं; उसकी चारों ओर की गति-विधि भी सरल नहीं है। इसके अलावा उसकी लीला इतनी सूक्ष्म, इतनी अभावनीय, इतनी आकस्मिक होती है कि उसे पूर्ण रूप में हृदयंगम करना असाधारण क्षमता का काम है। व्यास-वाल्मीकि कालिदास ने यह काम किया है।

अब हम सारी आलोचना के विषय को एक वाक्य में कह सकते हैं कि साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है ।

किन्तु मानव-चरित्र इतना-सा मानो बाहुल्य कहना हो गया है। वस्तुतःवाह्य-प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय में सर्वदा जो आकार धारण करता है, जो संगीत ध्वनित करता है, भाषा-रचित वही चित्र और वही संगीत ही साहित्य है ।

भगवान् का आनन्द प्रकृति में, मानव-चरित्र में, अपने आप को सृष्ट करता है, मनुष्य के हृदय और साहित्य में अपने को सृजन और व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इस चेष्टा का अन्त नहीं है। यह विचित्र है। कवि मानव-हृदय की इस चिरन्तन चेष्टा का उपलक्ष्य-मात्र है।

भगवान् की आनन्द-सृष्टि अपने भीतर से स्वतः उत्साहित है। मानव-हृदय की आनन्द सृष्टि उसकी ही प्रतिध्वनि है । जब-तब सृष्टि का यह आनन्द-गीत हमारे हृदय-तंत्र की वीणा को झंकृत करता रहता है। वह मानव-सङ्गीत जो भगवान की सृष्टि के प्रतिघात से हमारे अन्तर में सृष्टि का आवेग लाता है, साहित्य में उसी का विकास होता है। विश्व का श्वांस हमारी चित्त-बंशी में कोनसी रागनी बजा रहा है, साहित्य उसे ही स्पष्ट करता है। साहित्य व्यक्ति विशेष का नहीं, रच-यिता का भी नहीं, वह देववाणी है। वाह्य-सृष्टि जिस तरह अपनी अच्छाई बुराई लिए, अपनी असम्पूर्णता लिए, चिरकाल व्यक्त होने की कोशिश करती है, यह वाणी भी देश-देश में विभिन्न भाषाओं में, हमारे अन्तर से बाहर होने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहती है।

नाटक

डाकघर

प्रथम अंक

माधवदत्त—मुश्किल में पड़ गया। जब वह नहीं था तो कोई-बात ही नहीं थी—कोई चिन्ता ही नहीं थी। अब वह कहाँ से आकर मेरे घर का उजाला बन गया है, उसके चले जाने के बाद यह घर मानो घर ही नहीं रहेगा। वैद्य जी, आप क्या सोचते हैं कि उसको—

वैद्य—उसके भाग्य में यदि आयु लिखी होगी तो दीर्घ काल जी भी सकता है, किन्तु आयुर्वेद में जैसा लिखा है उससे तो—

माधवदत्त—कहते क्या हैं ?

वैद्य—शास्त्रों ने कहा है, पैत्तिकान्, सन्निपातजान, कफ बात—समुद्भावन—

माधवदत्त—रहने दीजिये, आप अब उन श्लोकों को मत-कहिये—इनसे मेरा भय और भी बढ़ जाता है। अब क्या करना होगा वही बताइये।

वैद्य—(सुंघनी सूंघकर) खूब सावधानी से रखना पड़ेगा।

माधवदत्त—यह तो ठीक बात है, किन्तु कौन से विषय पर सावधान होना पड़ेगा, यह स्थिर कर दीजिये)

वैद्य—मैं तो पहले ही कह चुका हूँ, उसे बाहर एकदम मत जाने दीजिये।

माधवदत्त—बालक ही तो है, उसे दिन-रात घर में बंद रखना बहुत कठिन है।

वैद्य—लेकिन कीजियेगा क्या ? इस शरत्काल की हवा और धूप

दोनों ही बालक के लिये विषवत् हैं–कारण शास्त्रों ने कहा है—अपस्मारे ज्वरे काशे कामलायां हलीम के—

माधवदत्त—रहने दीजिये शास्त्रों को ! तो उसे क्या घर में ही बन्द रखना पड़ेगा—और कोई उपाय नहीं है ?

वैद्य—कुछ नहीं, कारण, पवने तपने चैव—

माधवदत्त—आपके चैव को लेकर मुझे क्या फायदा होगा बताइये ? उसे रहने दीजिये और क्या करना पड़ेगा वही कहिये । किन्तु, आपकी व्यवस्था बड़ी कठोर है। रोग के सारे कष्ट वह बेचारा चुपचाप सह लेता है—किन्तु, आपकी दवा पीते वक्त उसका कष्ट देखकर मेरी छाती फट जाती है।

वैद्य—वह कष्ट जितना प्रबल होता है उसका फल भी उतना ही अधिक होता है। तभी महर्षि च्यवन ने कहा है भैषजं हितवाक्यंच तिक्तं आशुफलप्रदं। अच्छा तो, आज जा रहा हूँ माधव जी ?

(प्रस्थान)

(ठाकुर दादा का प्रवेश)

माधवदत्त—अरे ठाकुर दादा आ रहा है। सब चौपट करेगा ।

ठाकुर दादा—क्यों ? मुझसे इतने क्यों डरते हो ?

माधवदत्त—तुम तो बच्चों को बहकाने वाले सर्दार हो।

ठाकुर दादा—तुम तो बच्चे नहीं हो और न तुम्हारे घर में ही कोई बच्चा है। फिर तुम बहकाने वालों की उम्र के भी नहीं हो—तुम्हें किसकी चिन्ता ?

माधवदत्त—घर में एक लड़का लाया हूँ ।

ठाकुर दादा—वह कैसा ?

माधवदत्त—मेरी स्त्री एक लड़का गोद लेने के लिये पागल हो उठी थी।

ठाकुरदादा—यह तो बहुत दिनों से सुनता आ रहा हूँ, लेकिन तुम लेना नहीं चाहते ?

माधवदत्त—जानते तो हैं ही, बड़े परिश्रम से रुपया जमा किया है। यह सोच कर बुरा लगता कि न जाने कहाँ से किसी दूसरे का लड़का आकर मेरा परिश्रम से संचित धन बिना परिश्रम के खर्च करेगा, किन्तु यह लड़का मुझे कितना अच्छा लगता है !

ठाकुर दादा—तभी, इसके लिये जितने रुपये खर्च करते हो उतना ही सोचते हो कि रुपयों का उचित उपयोग हो रहा है ।

माधवदत्त—आगे रुपया कमाया करता था, वह केवल एक नशे जैसा था—नहीं कमाये वग़ैर रह नहीं सकता था। किन्तु, अब जो संचय किया है, वह सब इस लड़के को मिलेगा, यह जान कर बहुत आनन्द हो रहा है ।

ठाकुर दादा—वाह भाई वाह, यह लड़का मिला कहाँ से ?

माधवदत्त—मेरी स्त्री का गाँव के नाते का भतीजा है । बचपन से ही बेचारे के माँ नहीं है और फिर उस दिन तो उसका बाप भी मर गया ।

ठाकुर दादा—तब तो उसे मेरी आवश्यकता है।

माधवदत्त—वैद्य जी ने कहा है, उसके उतने से शरीर में एक साथ वात-पित्त-कफ जिस तरह प्रकोपित हो उठे हैं, उससे तो और आशा नहीं दिखाई पड़ती। अब एक मात्र उपाय यह है कि उसे शरत् की धूप और हवा से बचा कर घर में बन्द करके रखना। लेकिन तुम्हारा तो बच्चों को घर से बाहर करना ही खेल है—तभी तुमसे इतना डरता हूँ ।

ठाकुर दादा—झूँठ तो नहीं कह रहे हो—मैं शरत् की धूप और हवा की तरह ही भयानक हो उठा हूँ। किन्तु, भैया, घर के भीतर रखने का खेल भी मैं थोड़ा बहुत जानता हूँ। अपना काम काज कर आऊँ, फिर इस लड़के से दोस्ती करूँगा।

[प्रस्थान]

(अमल गुप्त का प्रवेश)

अमल—फफा जी ?

माधवदत्त—क्या है अमल !

अमल—मैं क्या आँगन में भी नहा जा सकता ?

माधवदत्त—नहीं बेटा ।

अमल—वहाँ, जहाँ बूआजी चक्की में दाल दलती हैं, वह देखिये न जहाँ गिलहरी अपनी दुम के बल पर बैठी दोनों हाथों से दली हुई दाल की चूनी कुतर-कुतर कर खा रही है—वहाँ भी मैं नहीं जा सकता ?

माधवदत्त—नहीं बेटा !

अमल—मैं यदि गिलहरी होता तो बड़ा अच्छा रहता । किन्तु, फूफाजी, मुझे बाहर निकलने क्यों नहीं देते ?

माधवदत्त—वैद्य ने कहा है, बाहर जाने से तुम बीमार पड़ जावोगे।

अमल—वैद्य ने कैसे जाना ?

माधवदत्त—कहते क्या हो अमल ? वैद्य नहीं जानेगा ? उसने इतनी मोटी-मोटी किताबें पढ़ी हैं ।

अमल—किताब पढ़ने से ही क्या सब कुछ मालूम पड़ जाता है ?

माधवदत्त—वाह ! यह भी नहीं जानते !

अमल—(दीर्घ श्वाँस त्याग कर) मैंने तो कोई किताब नहीं पढ़ी है······तभी नहीं जानता हूँ ।

माधवदत्त—बड़े-बड़े पंडित भी तुम्हारे जैसे ही होते हैं—वे घर से तो निकलते नहीं हैं ।

अमल—निकलते नही हैं ?

माधवदत्त—कब निकलेंगे बताओ ? वे बैठे-बैठे किताबें ही पढ़ते रहते हैं—और किसी ओर उनकी दृष्टि नहीं रहती ।

अमल बाबू तुम भी बड़े होकर पंडित बनोगे—बैठे बैठे इतनी बड़ी-बड़ी किताबें पढ़ोगे—तुम्हें देख कर सब लोग आश्चर्यचकित हो जायेंगे ।

अमल—नहीं नहीं, फूफाजी, तुम्हारे पैरों पड़ता हूँ, मैं पंडित नहीं बनूँगा—मैं पंडित नहीं बनूँगा ।

माधवदत्त—यह कैसी बात कहते हो, अमल ? यदि मैं पंडित हो

सकता तो बन जाता।

अमल—मैं, जो देखने लायक चीजें हैं उन्हें देखूँगा, केवल देखता ही रहूँगा।

माधवदत्त—सुनो इसको, देखोगे क्या ? देखने लायक इतना है ही क्या ?

अमल—अपनी खिड़की से दूर पर वह जो पहाड़ दिखता है, मेरी बहुत इच्छा होती है कि पहाड़ के उस पार चला जाऊँ ?

माधवदत्त—सुनो पागल की बातें ! काम नहीं, काज नहीं, खाम-खाह पहाड़ के उस पार चला जाऊँ। क्या, जो कहते हो, उसका पता ही नहीं चलता ? पहाड़ जब एक बड़ी रोक की तरह खड़ा है तो समझना चाहिये कि उसे पार करना मना है—नहीं तो इतने बड़े पत्थरों को इकट्ठा करके इतने झमेले की क्या जरूरत थी।

अमल—फूफाजी, तुम क्या यह सोचते हो कि वे मना कर रहे हैं ? मुझे लगता है कि पृथ्वी बोल नहीं सकती। तभी इस तरह नीले आसमान में हाथ उठाकर पुकारती है। बहुत दूर के जो लोग हैं, जो घर में बैठे रहते हैं वे भी दोपहर को खिड़की के पास बैठ कर यह पुकार सुनते हैं। पंडितों को शायद यह सुनाई नहीं पड़ता है ?

माधवदत्त—वे तो तुम्हारी तरह पागल नहीं हैं—वे सुनना ही नहीं चाहते।

अमल—मेरे जैसे पागल ! मैंने कल ऐसा ही एक आदमी देखा था।

माधवदत्त—सचमुच ? कैसा था ?

अमल—उसके कंधे पर एक बाँस की लाठी थी। लाठी के अगले छोर पर एक गठरी बँधी हुई थी। उसके बाँये हाथ में एक लोटा था। पुराने पंजाबी जूते पहने वह उस रास्ते से पहाड़ की ओर जा रहा था। मैंने उसे बुलाकर पूछा, कहाँ जा रहे हो ? उसने कहा, क्या मालूम, कहीं भी। मैंने पूछा, क्यों जा रहे हो ? उसने कहा, काम ढूँढ़ने। अच्छा

फूफाजी, काम क्या ढूँढ़ना पड़ता है ?

माधवदत्त—और नहीं तो क्या ? कितने लोग काम ढूँढ़ते हैं।

अमल—अच्छा तो, मैं भी उनकी तरह काम ढूँढूँगा।

माधवदत्त—ढूँढ़ने पर न मिले तो ?

अमल—ढूँढ़ने पर यदि न मिले तो फिर ढूँढूँगा—इसके बाद वह पंजाबी जूते वाला आदमी चला गया—मैं दरवाजे पर खड़ा-खड़ा देखने लगा, वहाँ पर जहाँ गूलर के पेड़ के नीचे झरना बह रहा है, वहीं उसने लाठी रख दी और झरने के पानी से धीरे-धीरे हाथ-पैर धो लिये—फिर गठरी खोल कर सत्तू निकाला और पानी से सान कर खाने लगा। खा लेने के बाद फिर गठरी बाँध कर कंधे पर रख ली।—पैरों पर का कपड़ा सिमेट कर उस झरने के भीतर से पानी काटता हुआ बड़े मजे में उस पार चला गया। बूआजी से मैंने कह रखा है कि इस झरने के किनारे जाकर मैं भी एक दिन सत्तू खाऊँगा।

माधवदत्त—बूआ ने क्या कहा ?

अमल—बूआजी ने कहा कि तुम अच्छे हो जाओगे, उसके बाद तुम्हें उस झरने के पास ले जाकर सत्तू खिला लाऊँगी—मैं कब अच्छा होऊँगा ?

माधवदत्त—अब देर नहीं है, बेटा !

अमल—देर नहीं है ? लेकिन अच्छा होते ही मैं चला जाऊँगा।

माधवदत्त—कहाँ जाओगे ?

अमल—कितने टेढ़े-मेढ़े झरनों के जल में अपने पैर डुबोता हुआ पार होता हुआ चला जाऊँगा। दोपहर को जब सभी घर का दरवाजा बन्द करके सोते रहेंगे, तब मैं न मालूम कहाँ और कितनी दूर पर काम ढूँढ़ता हुआ घूमता रहूँगा।

माधवदत्त—अच्छा पहले तुम अच्छे हो जाओ-फिर तुम—

अमल—इसके बाद मुझे पंडित होने के लिये मत कहना फूफाजी।

माधवदत्त—तुम क्या होना चाहते हो, बताओ ?

अमल—अभी तो मुझे कुछ याद नहीं आ रहा है—अच्छा मैं सोच कर बताऊँगा।

माधवदत्त—किन्तु, तुम इस तरह जिसे-तिसे बुलाकर बात मत करना।

अमल—विदेशी-लोग मुझे बहुत अच्छे लगते हैं।

माधवदत्त—यदि तुम्हें पकड़ कर ले जाते तो ?

अमल—तब तो बहुत अच्छा होता। किन्तु मुझे तो कोई पकड़ कर नहीं ले जाता—सभी केवल बैठाए रखते हैं।

माधवदत्त—मुझे काम है, मैं जा रहा हूँ—लेकिन बेटा, देखना, बाहर मत निकल जाना।

अमल—नहीं जाऊँगा। किन्तु, फूफाजी, सड़क के पास इस कमरे में मैं बैठा रहूँगा।

(२)

दही वाला—दही—लो, बढ़िया दही लो—दही !

अमल—दही वाले, दही वाले, ओ दही वाले !

दहीवाला—पुकारते क्यों हो ? दही लोगे ?

अमल—कैसे खरीदूँ ? मेरे पास तो पैसा नहीं है।

दही वाला—कैसे लड़के हो जी तुम ! खरीदोगे नहीं तो मेरा वक्त क्यों बर्वाद कर रहे हो ?

अमल—मैं यदि तुम्हारे साथ जा सकता तो चला जाता।

दहीवाला—मेरे साथ ?

अमल—हाँ ! तुम जो इतनी दूर से पुकारते हुये चले जा रहे हो, यह सुन कर मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है।

दहीवाला—(दही की मटकी उतार कर) भैया, तुम यहाँ बैठ कर क्या कर रहे हो ?

अमल—वैद्य जी ने मुझे बाहर निकलने के लिये मना किया है, इसलिये दिन-भर यहीं बैठा रहता हूँ।

दही वाला—तुम्हारे क्या हुआ है भाई ?

अमल—यह तो मैं नहीं जानता। मैंने तो कुछ पढ़ा नहीं है, तभी मैं नहीं जानता कि मेरे क्या हुआ है। दही वाले तुम कहाँ से आ रहे हो ?

दही वाला—अपने गाँव से आ रहा हूँ।

अमल—तुम्हारा गाँव ? बहुत दूर पर है तुम्हारा गाँव ?

दही वाला—हमारा गाँव उसी पाँच मूड़ा पहाड़ के नीचे है। शामली नदी के किनारे पर।

अमल—पाँच मूड़ाँ पहाड़। शामली नदी—क्या मालूम, शायद तुम्हारा गाँव देखा है—लेकिन अब यह याद नहीं आ रहा।

दही वाला—तुमने देखा है ? पहाड़ के नीचे कभी गये थे क्या ?

अमल—नहीं, किसी दिन गया तो नहीं, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि मैंने देखा है। बहुत पुराने जमाने के खूब बड़े-बड़े पेड़ों के नीचे तुम्हारा गाँव है न ! एक लाल रास्ते के किनारे ?

दही वाला—ठीक कहा भैया !

अमल—वहाँ पहाड़ के पास गायें चरती हैं ?

दही वाला—आश्चर्य ! तुम तो सब ठीक बता रहे हो। हमारे गाँव में चरती हैं, खूब गायें चरती हैं !

अमल—लड़कियाँ नदी से पानी लेकर कलसी सिर पर रख कर घर जाती हैं—उनकी साड़ियाँ लाल रंग की है।

दही वाला—वाह ! वाह ! ठीक बात है। हमारे पड़ौस की सभी लड़कियाँ नदी से पानी तो ले ही जाती है। किन्तु, सभी की साड़ियाँ लाल रंग की नहीं होती। लेकिन भैया, तुम जरूर कभी वहाँ घूमने गये थे।

अमल—नहीं, मैं सच कहता हूँ, दही वाले, मैं एक दिन भी वहाँ नहीं गया था। वैद्यजी जिस दिन मुझे बाहर जाने के लिये कहेंगे उस दिन

तुम अपने गाँव मुझे ले चलोगे ?

दही वाला—हाँ भैया, जरूर ले जाऊँगा।

अमल—मुझे भी तुम अपनी तरह दही बेचना सिखा देना। तुम्हारी जैसी मटकी लेकर मैं भी दही बेचूँगा—उस दूर के रास्ते से जाऊँगा।

दही वाला—यह कैसी बात कहते हो भैया ? तुम क्यों दही-बेचने जाओगे। तुम तो किताबें पढ़ कर पंडित बनोगे।

अमल—नहीं, नहीं, मैं पण्डित नहीं बनूँगा। मैं तुम्हारी लाल सड़क के किनारे से पुराने बरगद के पेड़ तले अहिराने से दही लाकर दूर के गाँव-गाँव मे बेचता फिरूँगा। तुम किस तरह पुकारते हो—दही लो, दही—बढ़िया दही। मुझको इसका सुर सिखा दो।

दही वाला—हाय री क़िस्मत ! यह सुर भी क्या सिखाने लायक है ?

अमल—नहीं, नहीं यह आवाज मुझे बहुत अच्छी लगती है। आकाश के किनारे से आती हुई पक्षी की आवाज़ सुनकर जिस तरह मन उदास हो जाता है—उसी तरह उस सड़क के मोड़ से, उन वृक्षों की ओट से जब तुम्हारी आवाज आ रही थी, तो मुझे लग रहा था—न जाने क्या मन में आरहा था।

दही वाला—भैया, तुम एक कटोरी दही की पीलो।

अमल—मेरे पास तो पैसा नहीं है।

दही वाला—नहीं, नहीं, —पैसे की बात छोड़ दो। तुम मेरा थोड़ा-सा दही पी लोगे तो मुझे बहुत ख़ुशी होगी।

अमल—तुम्हें क्या बहुत देर होगई ?

दही वाला—कुछ भी देर नहीं हुई भैया, मेरा कुछ नुकसान नहीं हुआ। दही बेचने में भी कितना आनन्द है, यह आज मैंने तुम से सीखा।

(प्रस्थान)

अमल—(गाने की सुर में)—दही, दही, दही, बढ़िया दही। उस पाँचमुड़ा पहाड़ के नीचे शामली नदी के किनारे अहीरों के घर का दही। वे भोर के समय अपनी-अपनी गाय दुहते हैं, संध्या के समय

स्त्रियाँ दही जमाती हैं—वही दही है।—दही दही, वही—ई—अच्छा दही है ।

यह तो सड़क पर प्रहरी घूम रहा है। प्रहरी, प्रहरी, एक बार मेरी बात सुन जाओ न प्रहरी।

(प्रहरी का प्रवेश)

प्रहरी—मुझे इस तरह क्यों बुला रहे हो ? मुझसे तुम्हें डर नहीं लगता ?

अमल—क्यों ? तुम्हारा डर क्यों लगेगा ?

प्रहरी—यदि तुमको पकड़ कर ले जाऊँ ?

अमल—पकड़ कर कहाँ ले जाओगे ? बहुत दूर ? उस पहाड़ के उस ओर ?

प्रहरी—एकदम यदि राजा के पास ले जाऊँ तो ?

अमल—राजा के पास ? ले जाओ न मुझको। लेकिन, मुझे तो वैद्य ने बाहर जाने के लिये मना किया है। मुझे कोई कहीं पकड़ कर नहीं ले जा सकता—मुझे केवल रात-दिन यहाँ बैठा रहना पड़ेगा ।

प्रहरी—वैद्य ने मना किया है ? अहा, तभी तुम्हारा मुँह मानो पीला पड़ गया है। आँखों के नीचे स्याही पड़ गई है । तुम्हारे दोनों हाथों की नसें दिखाई पड़ रही हैं।

अमल—प्रहरी, तुम घंटा नहीं बजाओगे ?

प्रहरी—अभी वक्त नहीं हुआ ।

अमल—कोई कहता है 'समय बह रहा है' कोई कहता है समय हुआ ही नहीं है'—अच्छा तुम घंटा बजा दोगे तो समय हो जायेगा ।

प्रहरी—ऐसा नहीं होता। समय होने पर मैं घंटा बजा देता हूँ।

अमल—तुम्हारा घंटा मुझे बहुत अच्छा लगता है—इसकी आवाज बहुत अच्छी है। दोपहर के वक्त जब हमारे घर में सभी लोग भोजन कर लेते हैं, जब फूफाजी कहीं काम पर चले जाते हैं, बूआजी रामायण पढ़ती-पढ़ती सो जाती हैं, हमारा छोटा कुत्ता आँगन की उस छाया में

दुम के भीतर अपना मुँह दाबे सोता रहता है—तब तुम्हारा वह घंटा बजता है—टन्-टन्-टन्,-टन्-टन्-टन् । तुम्हारा घंटा क्यों बजता है ?

प्रहरी—घंटा सब को यह एक ही बात कहता है, समय बैठा नहीं है, समय बीत रहा है ।

अमल—कहाँ जा रहा है ? कौन से देश को ?

प्रहरी—यह कोई नहीं जानता ।

अमल—उस देश को शायद किसी ने देखा नहीं है ? मेरी बड़ी इच्छा हो रही है कि मैं भी उस समय के साथ उसी देश में चला जाऊँ—जिस देश की कोई बात नहीं जानता, जो बहुत दूर है ।

प्रहरी—उस देश में तो सभी को जाना होगा, भैया !

अमल—मुझे भी जाना होगा ?

प्रहरी—होगा क्यों नहीं ?

अमल—लेकिन, वैद्य जी ने तो मुझे बाहर जाने के लिये मना किया है ।

प्रहरी—किसी दिन स्वयं वैद्य जी ही शायद तुम्हारा हाथ पकड़ कर ले जायेंगे ।

अमल—नहीं-नहीं, तुम उन्हें नहीं जानते हो, वे केवल पकड़ कर रखते हैं ।

प्रहरी—उनसे अच्छे वैद्य जो हैं, वे आकर छोड़ देते हैं ।

अमल—उनसे अच्छे वैद्य कहाँ हैं ? वे मुझे कब ले जायेंगे ? मुझे तो बैठे-बैठे अब अच्छा नहीं लगता ।

प्रहरी—ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, भैया !

अमल—देखो न—मैं तो बैठा ही हूँ—जहाँ मुझे बैठाया है वहाँ से तो मैं उठा नहीं हूँ—किन्तु, जब तुम्हारा घंटा टन्-टन्-टन् बजता है तो मेरा मन न जाने कैसा हो जाता है । अच्छा, प्रहरी !

प्रहरी—क्या, भाई ?

अमल । अच्छा, वह जो सड़क के उस पार बड़े मकान पर झंडा उड़ रहा है, वहाँ इतने आदमी आते-जाते रहते ह—वहाँ क्या हैं ?

प्रहरी—वहाँ नया डाकघर खुला है ।

अमल—डाकघर ? किसका डाकघर ?

प्रहरी—डाकघर और किसका होगा ?—राजा का डाकघर ।—यह तो बड़ा अजीब लड़का है ।

अमल—राजा के डाकघर में राजा के पास से चिट्ठियाँ आती हे ?

प्रहरी—हाँ, आती तो हे । देखो एकदिन तुम्हारे नाम पर भी चिट्ठी आयेगी ।

अमल—मेरे नाम पर भी चिट्ठी आयेगी ? लेकिन में तो बच्चा हूँ ।

प्रहरी—बच्चों को ही तो राजा छोटी-छोटी चिट्ठी लिखते हैं ।

अमल—वाह ! मुझे कब चिट्ठी मिलेगी ? मुझे भी राजा चिट्ठी देगें ? तुम्हें कैसे मालूम हुआ ?

प्रहरी—तुम्हें ही यदि चिट्ठी नहीं लिखेगे तो ठीक तुम्हारी खुली हुई खिड़की के सामने ही इतना बड़ा सुनहरे रंग का झंडा लगा कर डाकघर क्यों खोलते ?—यह लड़का मुझे अच्छा लग रहा है ।

अमल—अच्छा, राजा के पास से मेरी चिट्ठी आने पर मुझे कौन लाकर देगा ?

प्रहरी—राजा के बहुत से डाकिये जो हें—तुमने नहीं देखा, छाती पर सोने के गोल-गोल तमगे लगाये घूमते रहते हें ?

अमल—अच्छा, वे कहाँ घूमते हें ?

प्रहरी—घर-घर में, देश देश में ।—इसके प्रश्न सुन कर हँसी आती है ।

अमल—बड़ा होने पर में राजा का डाकिया बनूँगा ।

प्रहरी—हा-हा-हा-हा ! डाकिया ! वह बड़ा भारी काम है । धूप, वृष्टि छोटे-बड़े किसी का भी ख्याल न करते घर-घर चिट्ठियाँ बाँटना—

यह बड़ा भारी काम है !

अमल—तुम हँसते क्यों हो ? मुझे यही काम सब से अच्छा लगा है। वैसे तुम्हारा काम भी बहुत अच्छा है—दोपहर को जब प्रचंड धूप रहती है तब तुम्हारा घंटा बजता है टन्-टन्-टन्—और कभी-कभी रात को एकाएक बिछौने पर नींद खुल जाती है तो देखता हूँ, दीपक बुझ गया है, बाहर के गंभीर अंधकार के भीतर से घंटे की आवाज आती है—टन्-टन्-टन् ।

प्रहरी—वह देखो, मुखिया आ रहा है—मैं अब जाता हूँ । वह यदि मुझको तुम से बात करते देख लेगा तो मश्किल हो जायेगी ।

अमल -कहाँ है मुखिया, कहाँ ?

प्रहरी—वह देखो बहुत दूर पर है । सर पर बड़ा सा ताड़ के पत्ते का गोल छाता रखे हुए है ।

अमल—उसे शायद राजा ने मुखिया बना दिया है ?

प्रहरी—अरे नहीं । यह अपने आप पंच बन बैठा है । इसकी बात जो नहीं सुनता है उसके पीछे ऐसा लग जाता है कि सभी उससे डरते हैं । सब के साथ केवल शत्रुता करके ही वह अपना व्यवसाय चला रहा है । अच्छा, आज मैं जाता हूँ. मेरे काम में हर्ज हो रहा है । कल फिर सुबह आकर तुम्हें सारे शहर की बातें बताऊँगा ।

(प्रस्थान)

अमल—राजा के पास से यदि एक चिट्ठी रोज मिले तो बड़ा अच्छा हो—इस खिड़की के पास बैठ कर पढ़ूँ ।

लेकिन मैं तो पढ़ना नहीं जानता । कौन पढ़ेगा ? बूआजी तो रामायण पढ़ती हैं । वे क्या राजा की लिखावट पढ़ सकेंगी ? अगर कोई नहीं पढ़ सकेगा तो इन चिट्ठियों को सँभाल कर रखूँगा, मैं बड़ा होने पर उन्हें पढ़ूँगा । लेकिन डाकिया यदि मुझे नहीं पहचाने । मुखिया जी, ओ मुखिया जी—एक बात सुनिये न !

(मुखिया का प्रवेश)

मुखिया—कौन है बे ! बीच रास्ते में मुझको पुकार रहा है ! कहाँ का बन्दर है यह !

अमल—आप गाँव के मुखिया हैं, आपको तो सभी मानते हैं ।

मुखिया—(खुश होकर) हाँ, हाँ, मानते तो हैं, बहुत मानते हैं ।

अमल—राजा का डाकिया आपकी बात सुनता है ?

मुखिया—न सुने तो उसकी जान बचे ? मजाल क्या है ?

अमल—आप डाकिये से कह दें कि मेरा ही नाम अमल है—मैं इस खिड़की के पास बैठा रहता हूँ ।

मुखिया—क्यों, बात क्या है ?

अमल—मेरे नाम से यदि कोई चिट्ठी आये—

मुखिया—तुम्हारे नाम से चिट्ठी ! तुम्हें कौन चिट्ठी लिखेगा ?

अमल—यदि राजा चिट्ठी लिखे तो—

मुखिया—हा-हा-हा हा ! यह लड़का तो कम नहीं है। हा-हा-हा हा ! राजा तुम्हें चिट्ठी लिखेंगे ? हाँ, वे तो लिखेंगे ही ! तुम जो उनके परम मित्र हो । कई दिनों से तुम्हारे साथ राजा की मुलाकात नहीं हुई है । तभी खबर मिली है कि राजा दिन-पर-दिन सूखते जा रहे हैं। अब ज्यादा देर नहीं है । उनकी चिट्ठी आज-कल में ही आने वाली है ।

अमल—मुखिया जी, आप इस तरह क्यों बातें कर रहे हैं । आप क्या मुझसे नाराज होगये हैं ?

मुखिया—बाप रे ! तुम पर नाराज होऊँ ? मुझ में इतना साहस ! राजा से तुम्हारा पत्र-व्यवहार चलता है ।—माधवदत्त बहुत बढ़ गया है । दो पैसे इकट्ठ होगये होंगे तभी उसके घर में राजा-बादशाह को छोड़ कर बात ही नहीं होती । ठहरो न, उसे मजा चखा रहा हूँ । ओ लड़के, अच्छा, जल्दी ही राजा की चिट्ठी तुम्हारे घर में आये, इसकी व्यवस्था मैं कर देता हूँ ।

अमल—नहीं, नहीं, आपको कुछ नहीं करना होगा ।

मुखिया—क्यों जी ! तुम्हारी खबर मैं राजा को बता दूँगा, तब

वह और देर न करके तुम लोगों की खबर लेने के लिये एक प्यादा भेज देंगे !—माधवदत्त की बड़ी स्पर्द्धा हो गई है—राजा के कान में बात उठते ही ठीक हो जायेगा।

(प्रस्थान)

अमल—तुम कौन हो जो छम-छम करती हुई जा रही हो, जरा ठहरो न !

(बालिका का प्रवेश)

बालिका—मुझे क्या ठहरने की फुर्सत है ? समय जा रहा है जो !

अमल—तुम्हारी ठहरने की इच्छा नही होती है—मेरी भी अब यहाँ बैठने की इच्छा नहीं है।

बालिका—तुम्हें देखकर मुझे ऐसा लगता है कि मानो तुम सुबह का तारा हो,—तुम्हें क्या हुआ है ?

अमल—न मालूम क्या हुआ है, वैद्य जी ने बाहर जाने के लिये मना किया है।

बालिका—आह ! तब निकलना मत—वैद्य की बातें सुननी चाहियें—नटखटी नहीं करनी चाहिये, नहीं तो लोग शैतान कहेंगे। बाहर की ओर देख कर तुम्हारा मन मचल रहा है, मैं तुम्हारा यह आधा खुला हुआ दरवाजा भी बन्द कर देती हूँ।

अमल—नहीं, नहीं, बन्द मत करो—यहाँ मेरा सब कुछ बन्द है सिर्फ इतना-सा खुला है। तुम कौन हो यह तो नहीं बताया—मैं तो तुम्हें नहीं जानता।

बालिका—मैं सुधा हूँ।

अमल—सुधा ?

सुधा—नहीं जानते ? मैं यहाँ का मालिन की बेटी हूँ।

अमल—तुम क्या करती हो ?

सुधा—डलिया भर कर फल तोड़ लाती हूँ, माला गूँथती हूँ। अब फूल तोड़ने जा रही हूँ।

अमल—फूल तोड़ने जा रही हो ? तभी तुम्हारे दोनों पैर इतने चंचल हो उठे हैं—जब चलती हो तो कड़ा बजता है, झन्-झन्-झन् । यदि मैं तुम्हारे साथ चल पाता तो ऊँची डाल पर, जहाँ का फूल तुम्हें दिखाई नहीं देता, मैं तोड़ देता ।

सुधा—हाँ, फूलों के बारे में तुम ही मुझ से अधिक खबर जानोगे ।

अमल—जानता हूँ, खूब जानता हूँ । मैं चम्पा फूल के सात भाइयों की कथा जानता हूँ । मैं सोचता हूँ कि यदि मुझे सब कोई छोड़ दे तो मैं खूब घने जंगल में, जहाँ रास्ता ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलता, वहाँ जा सकता हूँ । पतली डालियों के किनारे जहाँ सारिकायें झूला करती हैं वहाँ मैं चम्पा फूल के रूप में खिल सकता हूँ । तुम मेरी पारनल दीदी बनोगी ?

सुधा—तुम्हारी बुद्धि भी कैसी है ! मैं कैसे पारनल दीदी हो सकती हूँ । मैं सुधा जो हूँ—शशी मालिन की बेटी ! मुझे रोज इतनी माला गूँथनी होती हैं । मैं यदि तुम्हारी तरह रोज यहाँ बैठ सकती तो कितना अच्छा होता ।

अमल—तो दिन भर तुम करती क्या हो ?

सुधा—मेरी बैनि बहू नाम की गुड़िया है, उसका ब्याह करती हूँ । मेरी 'म्याऊँ' है, उसे लेकर—मैं चली, देर हो रही है, फिर फूल नहीं मिलेंगे ।

अमल—मेरे साथ और थोड़ी-सी बातें करो न, मुझे बहुत अच्छा लग रहा है ।

सुधा—अच्छा, ठीक है । शैतानी मत करो और शान्त होकर, सुशील बालक की तरह यहाँ बैठे रहो । मैं फूल लेकर जब लौटूँगी तब तुम से बातें करूँगी ।

अमल—और, मुझे एक फूल देती जाओगी न !

सुधा—फूल ऐसे कैसे दूँगी ? दाम जो देने पड़ेंगे ?

अमल—मैं जब बड़ा होऊँगा, तब तुम्हें दाम दूँगा । मैं झरने

के उस पार काम ढूँढ़ने चला जाऊँगा, उस वक्त तुम्हें दाम देता जाऊँगा।

सुधा—अच्छा, ऐसा ही करना।

अमल—तब तुम फूल तोड़ कर आओगी न ?

सुधा—आऊँगी।

अमल—आओगी न ?

सुधा—आऊँगी।

अमल—! मुझे भूल तो नहीं जाओगी ? मेरा नाम अमल है। तुम्हारे याद रहेगा न ?

सुधा—नहीं भूलूँगी, नहीं। मुझे, याद रहेगा।

(प्रस्थान)

(लड़कों का प्रवेश)

अमल—भाई, तुम लोग सब कहाँ जा रहे हो ? एक बार थोड़ी देर ठहरो न !

लड़के—हम लोग खेलने जा रहे हैं।

अमल—तुम लोग कौनसा खेल खेलोगे भाई।

लड़के—हम लोग खेती का खेल खेलेंगे।

पहला लड़का—(लाठी दिखाकर) यह है हमारा हल।

दूसरा लड़का—हम लोग दोनों बैल बनेंगे।

अमल—सारे दिन खेलोगे ?

लड़के—हाँ सारे दिन-भर खेलगे।

अमल—इसके बाद नदी के किनारे से होते हुए घर लौट आओगे ?

लड़के—हाँ, संध्या को लौटेंगे।

अमल—मेरे इस घर के सामने से ही लौट कर जाना, भाई।

लड़के—तुम भी बाहर आओ न ! चलो खेलें।

अमल—वैद्य जी ने मुझे बाहर निकलने के लिये मना किया है।

लड़के—वैद्य जी ! वैद्य की बातें तुम मानते हो ? अच्छा, चलो भाई, चलो, हमें देर हो रही है ।

अमल—नहीं भाई, तुम लोग मेरी इस खिड़की के सामने सड़क पर थोड़ी देर खेलो—मैं जरा देखूँगा ।

लड़के—यहाँ क्या लेकर खेलें ?

अमल—यह देखो, मेरे खिलौने पड़े हैं—ये सब तुम्हीं लोग ले लो—घर के भीतर अकेला खेलना मुझे अच्छा नहीं लगता—ये सब फर्श पर ही पड़े रहते हैं—ये खिलौने मेरे कोई काम में नहीं आते है ।

लड़के—वाह, वाह, वाह कैसे सुन्दर खिलौने हैं । यह तो जहाज है, यह बुढ़िया है । देखो, कैसा सुन्दर सिपाही है । यह सब तुमने हमें दे दिये ? तुम्हें अफसोस तो नहीं हो रहा है ?

अमल—नहीं, मुझे कुछ भी अफसोस नहीं है, ये सब तुम्हीं लोगों को दे दिये ।

लड़के—लेकिन इन्हें लौटायेंगे नहीं ।

अमल—नहीं, लौटाना नहीं पड़ेगा ।

लड़के—कोई बिगड़ेगा तो नहीं ?

अमल—कोई नहीं, कोई नहीं । लेकिन, रोज सुबह तुम लोग इन खिलौनों को लेकर मेरे इस दरवाज़े के सामने थोड़ी देर तक खेलना । और ये खिलौने जब पुराने हो जायेंगे तो मैं तुम्हें और नये खिलौने मँगा दूँगा ।

लड़के—अच्छा, भाई, हम लोग रोज यहाँ आकर खेल जाया करेंगे । अरे भाई, सिपाहियों को यहाँ सब सजाओ—हम लोग लड़ाई-लड़ाई खेलेंगे , बन्दूक कहाँ पावें ? वह जो एक बड़ी मूँज की सरहरी पड़ी है—उसी को तोड़कर हम बन्दूक बनायें । लेकिन, भाई, तुम तो सोने लगे ?

अमल—हाँ मुझे बड़ी जोर से नींद आ रही है । न जाने क्यों रह-रहकर मुझे नींद आती है । बहुत देर से बैठा हूँ, अब बैठा नहीं रहा

जाता—मेरी पीठ में दर्द हो रहा है।

लड़के—अभी तो कुल एक पहर ही हुआ है—अभी से तुम्हें नींद क्यों आती है। वह सुनो, एक पहर का घण्टा बज रहा है।

अमल—हाँ, वह बज रहा है—टन्-टन्-टन्—मुझे सोने के लिये कह रहा है।

लड़के—तब हम लोग अब जायें, फिर कल सुबह आयेंगे।

अमल—जाने से पहले तुम लोगों से एक बात पूछूँ, भाई। तुम लोग तो बाहर रहते हो, तुम लोग राजा के उस डाकघर के डाकियों को जानते हो ?

लड़के—हाँ, जानते हैं, खूब जानते हैं।

अमल—कौन-कौन हैं ? क्या नाम है।

लड़के—एक का नाम है बादल डाकिया, एक का नाम है शरत्—और भी कई हैं।

अमल—अच्छा, मेरे नाम से चिट्ठी आने पर वे क्या मुझे पहचान सकेंगे ?

लड़के—क्यों नहीं पहचान सकेंगे ? चिट्ठी पर तुम्हारा नाम रहने से ही तुम्हें पहचान लेंगे।

अमल—कल सुबह जब आओगे तो उनमें से किसी एक को बुला कर मुझे दिखा देना न !

लड़के—अच्छा दिखा देंगे।

अमल शय्यागत

अमल—फूफाजी, आज क्या मैं अपनी उस खिड़की के नजदीक भी नहीं जा सकता ? वैद्य जी ने मना किया है ?

माधवदत्त—हाँ, बेटा—वहाँ प्रतिदिन बैठने से ही तो तुम्हारी बीमारी बढ़ गई है।

अमल—नहीं फूफाजी, नहीं—मेरी बीमारी की बात तो मैं ही कुछ नहीं जानता, किन्तु, वहाँ बैठने पर मुझे अच्छा लगता है।

माधवदत्त—वहाँ बैठ-बैठकर तुमने शहर के जितने बच्चे-बुड्ढे हैं सभी से पहचान कर ली है—मेरे घर के सामने प्रतिदिन मानो मेला-सा लग जाता है। ऐसा होने पर क्या तुम्हारा शरीर ठीक रहेगा ? देखो तो, आज तुम्हारा मुँह कितना पीला लगता है।

अमल—फूफाजी, मेरा वह फकीर आज मुझे खिड़की के पास न देख कर शायद चला जायेगा।

माधवदत्त—तुम्हारा फकीर कौन है ?

अमल—वही जो रोज मेरे पास आकर नाना देश-विदेश की कहानियाँ सुनाया करता है—उसकी कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती हैं।

माधवदत्त—कहाँ, मैं तो किसी फकीर को नहीं जानता !

अमल—अब यही ठीक उसके आने का समय हुआ है—तुम्हारे पैर पड़ता हूँ, उससे एक बार कह दो कि वह मेरे कमरे में आकर बैठे !

(फकीर के भेष में ठाकुरदादा का प्रवेश)

अमल—अरे, यही तो हैं फकीर,—आओ मेरे बिछौने पर बैठो।

माधवदत्त—यह क्या ? यह तो—

ठाकुर दादा—(आँखों से इशारा करके), मैं फकीर हूँ

माधवदत्त—तुम क्या नहीं हो, यही मेरी समझ में नहीं आता।

अमल—इस बार तुम कहाँ गये थे, फकीर ?

ठाकुर दादा—मैं क्रौंच द्वीप गया था—वहीं से सीधा आ रहा हूँ।

माधवदत्त—क्रौंच द्वीप ?

ठाकुरदादा—इससे आश्चर्यचकित क्यों होते हो ? मुझे क्या अपनी तरह समझते हो ? मेरे जाने में तो कोई खर्च नहीं लगता। मैं जहाँ चाहूँ वहाँ जा सकता हूँ।

अमल—(ताली बजा कर) वाह ! तुम्हारा तो बड़ा मजा है ! तुमने कहा था कि मैं जब अच्छा हो जाऊँगा तो मुझे अपना चेला बना लोगे, याद है न फकीर ?

फकीर—खूब याद है। घूमने के ऐसे मंत्र सिखा दूँगा कि समुद्र, पहाड़, अरण्य कहीं कोई रुकावट नहीं होगी।

माधवदत्त—तुम लोग क्या पागलों जैसी बातें कर रहे हो ?

ठाकुर दादा—बेटा अमल, मैं पहाड़, पर्वत, समुद्र से नहीं डरता, किन्तु—तुम्हारे इस फूफाजी के साथ यदि वैद्यजी आकर मिल जायें तो मेरे मंत्र को हार माननी पड़ेगी !

अमल—नहीं, नहीं फूफाजी, तुम वैद्यजी से कुछ मत कहना। अब मैं यहाँ सोया करूँगा, कुछ नहीं करूँगा—किन्तु, जिस दिन मैं अच्छा हो जाऊँगा उसी दिन मैं फकीर से मंत्र लेकर चला जाऊँगा—नदी पहाड़, समुद्र मुझे नहीं रोक सकेंगे।

माधवदत्त—छिः बेटा, केवल जाऊँ-जाऊँ नहीं करना चाहिये—इससे मेरा मन दुःखी होता है।

अमल—क्रौंच द्वीप कैसा द्वीप है, मुझे बताओ न फकीर ?

ठाकुर दादा—वह बड़ा विचित्र स्थान है। वह चिड़ियों का देश है—वहाँ आदमी नहीं रहते। वे न तो आदमी की तरह बोलती हैं और न चलती ही हैं, वे गीत गाती हैं और उड़ती रहती हैं।

अमल—वाह! कितना सुन्दर। समुद्र के किनारे है न!

ठाकुर दादा—हाँ, समुद्र के किनारे ही तो है।

अमल—वहाँ के पहाड़ नीले रंग के हैं।

ठाकुर दादा—नीले पहाड़ों पर ही तो उनके घोंसले हैं। सन्ध्या के वक्त उन पहाड़ों पर सूर्यास्त की रोशनी पड़ती है और हरी चिड़ियों के दल अपने घोंसलों में लौट आते हैं—उस समय पहाड़ों का रंग, आकाश का रंग और चिड़ियों का रंग, यह सब मिल कर अजीब तरह के हो जाते हैं।

अमल—पहाड़ों पर झरने हैं?

ठाकुर दादा—वाह! झरना न रहे तो चलेगा कैसे? उसका नाच भी अनोखा है! मानो हीरों को गोल कर उँड़ेल रहा है। पत्थर के भीतर से कल-कल शब्द से झरता हुआ झरना समुद्र में जाकर मिला है। किसी भी वैद्य के बाप की ताकत नहीं है कि उसे एक दण्ड भी रोक कर रखे। मुझे चिड़ियों ने यदि नितान्त तुच्छ मनुष्य समझ कर जात से बाहर न निकाल दिया होता तो उस झरने के किनारे उनके हजारों घोंसलों के पास एक ओर बैठ कर समुद्र की लहरें देख कर सारा दिन काट देता।

अमल—मैं यदि चिड़िया होता तो—

ठाकुर दादा—तब एक बड़ी मुश्किल होती। मैंने सुना, तुमने दही वाले से कह रखा है कि बड़े होने पर तुम दही बेचोगे—चिड़ियों में तुम्हारे दही का व्यवसाय वैसा नहीं चलता। शायद उस में तुम्हारा कुछ नुकसान ही होता

माधवदत्त—अब तो मुझ से रहा नहीं जाता। मुझे भी तुम लोग पागल बना दोगे। लो मैं चला!

अमल—फूफा जी, मेरा दही वाला आकर चला गया ?

माधवदत्त—हाँ गया ! तुम्हारे इस फकीर की पोटली सर पर रख कर क्रौंच द्वीप जाने से तो उसका पेट नहीं भरेगा—वह तुम्हारे लिये एक कसोरा दही रख गया है और कह गया है कि उनके गाँव में उस की बहन की लड़की की शादी है—और वह कलमिटोले में शहनाई वालों से कहने जा रहा है—इसी लिये वह व्यस्त है ।

अमल—लेकिन उसने तो कहा था कि वह मेरे साथ अपनी छोटी भानजी को ब्याह देगा ।

ठाकुर दादा—तब तो बड़ी मुश्किल हो गई ।

अमल—उसने कहा था कि, वह मेरी सुन्दर-सी दुलहन होगी जो नाक में नथ और लाल पाड़ की साड़ी पहने हुये होगी । वह सुबह अपने हाथ से काली गाय का दूध दुह कर नई मिट्टी के कसोरे में मुझे झाग सहित दूध पिलावेगी और शाम के समय गोशाला में दीपक ले जाकर वहाँ रोशनी दिखायेगी और फिर मेरे पास बैठ कर चम्पा और उसके सात भाइयों की कहानी कहेगी ।

ठाकुर दादा—वाह, वाह, दुलहिन तो अच्छी है । मैं तो फकीर हूँ, फिर भी मुझे लोभ हो रहा है । बेटा, उसे भानजी का ब्याह करने दो । मैं कहता हूँ कि तुम्हें जब चाहियेगी तो उसके घर में कभी भी भानजी का घाटा नहीं होगा ।

माधवदत्त—चलो-चलो, बहुत होचुका । अब तो सुना नहीं जाता ।

(प्रस्थान)

अमल—फकीर, फूफा जी तो चले गये—अब मुझे चुप-चाप बता दो न, क्या डाकघर में मेरे नाम से राजा की कोई चिट्ठी आई है ?

ठाकुर दादा—सुना तो है, उनकी चिट्ठी रवाना हो चुकी है । वह चिट्ठी अभी रास्ते में है ।

अमल—रास्ते में ! कौन से रास्ते में ? वही, जो पानी बरसने के बाद आकाश के साफ होते ही दूर पर दिखाई पड़ता है—उस घने जंगल

के रास्ते में ?

ठाकुर दादा—तब तो तुम सब कुछ जानते हो, हाँ उसी रास्ते में।

अमल—मैं सब कुछ जानता हूँ, फकीर !

ठाकुर दादा—यही तो देख रहा हूँ—कैसे जाना ?

अमल—यह मैं नहीं जानता। मुझे आँखों के सामने दिखाई पड़ता है—मानो मैंने बहुत बार देखा है—बहुत दिन पहले, लेकिन कितने दिन पहले, यह याद नहीं आरहा है। बताऊँ ? मुझे ऐसा दिखता है कि राजा का डाकिया पहाड़ के ऊपर से अकेला केवल उतरता ही आ रहा है—बाँये हाथ में उसके लालटेन है। दाँये पर चिट्ठियों का थैला। कितने दिन, कितनी रातों से वह केवल पहाड़ से उतरता ही आरहा है। पहाड़ के नीचे जहाँ झरने का रास्ता खत्म हो जाता है वहाँ टेढ़े-मेढ़े रास्ते से नदी के किनारे चल रहा है—नदी के किनारे ज्वार के खेत हैं और वह उनकी पतली गली के भीतर से चल रहा है—इसके बाद ईख का खेत—उस ईख के खेत के पास से जो ऊँची मेड़ चली गई है उस पर से वह आरहा है—रात दिन अकेला आरहा है; खेत में झींगुर बोल रहे हैं—नदी के किनारे एक भी आदमी नहीं है, सिर्फ चाहा अपनी दुम हिलाकर घूम रहा है—मुझे सब कुछ दीखता है। जितना ही वह आगे आरहा है, उतना ही मेरा अंतर खुशी से भर रहा है।

ठाकुर दादा—तुम्हारी जैसी नवीन दृष्टि तो मेरे पास नहीं है, फिर भी मैं तुम्हारे देखने के भीतर से सब कुछ देख रहा हूँ।

अमल—अच्छा फकीर, जिस राजा का डाकघर है उसे तुम जानते हो ?

फकीर—जानता क्यों नहीं ! उसके पास तो मैं रोज भीख माँगने जाता हूँ।

अमल—यह तो ठीक है। मैं भी अच्छा होने पर तुम्हारे साथ भीख माँगने चलूँगा ? क्यों मैं नहीं जा सकूँगा क्या ?

ठाकुर दादा—बेटा, तुम्हें भीख माँगने की जरूरत नहीं पड़ेगी। तुम्हें वह जो देंगे ऐसे ही देदेगें।

अमल—नहीं-नहीं मैं उनके दरवाजे के सामने, रास्ते के किनारे खड़ा होकर जय-हो कह-कर भीख माँगूँगा—मैं खँजरी बजा कर नाचूँगा क्यों, ठीक रहेगा न ?

ठाकुर दादा—हाँ, यह बहुत ठीक रहेगा। तुम्हें साथ ले जाने पर मुझे भी भर पेट अन्न मिलेगा। तुम भीख में क्या माँगोगे ?

अमल—मैं कहूँगा, मुझे अपना डाकिया बना लो। मैं उसी तरह हाथ में लालटेन लिये घरघर तुम्हारी चिट्ठियाँ बाँटता फिरूँगा। जानते हो फक़ीर मुझे एक आदमी ने कहा है कि मेरे अच्छा होने पर वह मुझे भीख माँगना सिखा देगा। मैं उसके साथ जहाँ मन चाहेगा वहीं भीख माँगने चला जाऊँगा।

ठाकुर दादा—कौन है वह आदमी ?

अमल—छिदाम ?

ठाकुरदादा—कौनसा छिदाम ?

अमल—वही जो अंधा और लंगड़ा है। वह रोज़ मेरी खिड़की के पास आता है। मेरे जैसा ही एक लड़का उसे पहिये लगी हुई गाड़ी में ठेलता हुआ लाता है। मैंने उससे कहा है कि मैं अच्छा हो जाने पर उसे ठेल कर घुमाऊँगा।

ठाकुरदादा—तब तो बड़ा मजा होगा।

अमल—उसी ने कहा है कि किस तरह भीख माँगनी चाहिये यह वह मुझे सिखा देगा। फूफाजी से मैं जब उसे भीख देने के लिये कहता हूँ तो वे कहते हैं कि वह झूठ-मूठ का अंधा और लंगड़ा बना हुआ है। अच्छा वह झूठ मूठ का अन्धा ही सही, लेकिन आँखों सेउसे नहीं दिखता—यह तो सच है।

ठाकुरदादा—ठीक कहते हो बेटा, उसमें सत्य का अंश इतना ही है कि उसे आँखों से दिखाई नहीं पड़ता है—अब उसे अंधा कहो या न

कहो। इसे अगर भीख नहीं मिलती है तो वह तुम्हारे पास क्यों बैठा रहता है ?

अमल—उसे मैं बहुत सी बातें सुनाता हूँ कि कहाँ क्या है। बेचारा देख तो सकता नहीं है ! तुम मुझे जिन देशों की बातें बताते हो, मैं उन्हें उसे सुनाया करता हूँ। उस दिन तुमने मुझे उस हल्के देश की कहानी जो कही थी, जैसा किसी चीज़ की कोई वजन नहीं है जहाँ जरा सा कूदने पर ही पहाड़ पार कर लिया जाता है, उस कहानी को सुन कर वह बहुत खुश हुआ था। अच्छा फकीर, उस देश में कौन से रास्ते से जाया जा सकता है ?

ठाकुर दादा—भीतर से एक रास्ता जरूर है, लेकिन उसे ढूँढ़ना मुश्किल है।

अमल—वह बेचारा अंधा है, उसे तो शायद दिखाई ही नहीं पड़ेगा—उसे जीवन-भर केवल भीख ही माँगना पड़ेगा। इसे लेकर वह दुःखी हो रहा था—मैंने उससे कहा, भीख माँगते हुये तुम कितने घूमते हो, सभी तो इतना घूम नहीं सकते।

ठाकुर दादा—बेटा, घर में बैठे रहने पर भी किस बात का दुःख हैं।

अमल—नहीं, नहीं, दुःख नहीं है। पहले मुझे जब घर के भीतर बैठा कर रखा था तो मुझे ऐसा लगता था कि दिन बीतता ही नहीं है, लेकिन राजा का डाकघर देखने के बाद से ही मुझे अच्छा लगता है—इस घर में बैठना भी अच्छा लगता है—एक दिन मेरी चिट्ठी आयेगी, सोच कर खुश होता हूँ और चुपचाप बैठा रहता हूँ। किन्तु राजा की चिट्ठी में क्या लिखा रहेगा यह तो मैं नहीं जानता।

ठाकुर दादा—यह न भी जानो तो क्या है—तुम्हारा नाम तो लिखा रहेगा, वही बहुत है।

(माधवदत्त का प्रवेश)

माधव—तुम दोनों ने मिल कर यह क्या बखेड़ा मचा रखा है,

बताओ तो !

ठाकुर दादा—क्यों, क्या हुआ ?

माधवदत्त—सुना है कि तुम लोगों ने कहा है, राजा ने तुम्हीं लोगों को चिट्ठी लिखने के लिये डाकघर खुलवाया है।

ठाकुर दादा—तो उस से क्या हुआ ?

माधवदत्त—हमारे गाँव का पँचानन मुखिया जो है उसने गुमनाम की एक चिट्ठी राजा के पास लिखी है और उस में इन बातों को लिखा है।

ठाकुर दादा—राजा के कानों में सभी बातें जाती हैं, यह क्या हम नहीं जानते ?

माधव दत्त—तब संभल कर क्यों नहीं चलते ? राजा बादशाह के नाम पर ऐसी-वैसी बातें जबान पर क्यों लाते हो ? तुम लोग तो मुझे भी आफ़त में डालोगे।

अमल—फकीर, राजा क्या नाराज हो जायेंगे ?

ठाकुर दादा—कहने से ही नाराज हो जायेंगे ! कैसे नाराज होते हैं, मैं देखता हूँ। मेरे जैसे फकीर और तुम जैसे बालक पर नाराज होकर वे ऐसी बादशाही करते हैं, यह देखा जायेगा।

अमल—देखो फकीर, आज सुबह से मेरी आँखों के सामने हट-हट कर अँधेरा छा जाता है; ऐसा लगता है, मानो सब कुछ स्वप्न हो। एक दम चुप हो जाने की इच्छा होती है। बात कहने की इच्छा नहीं होती है। राजा की चिट्ठी क्या नहीं आयेगी ? अभी यदि यह घर हवा हो जाय---यदि—

ठाकुर दादा—(अमल को पंखे से हवा करते हुये) आयेगी बेटा ! आज ही चिट्ठी आयेगी।

(वैद्य जी का प्रवेश)

वैद्य—आज कैसा हाल है ?

अमल—वैद्य जी, आज बहुत अच्छा लग रहा है—ऐसा लगता

है कि सारी वेदना चली गई है ।

वैद्य—(जनान्तिक में माधव के प्रति) इसकी हँसी तो ठीक नहीं लग रही है । वह जो यह कह रहा है कि बहुत अच्छा लग रहा है, यही बुरा लगता है । हमारे चक्रधर ने कहा है—

माधव दत्त—दोहाई वैद्य जी, चक्रधर की बात रहने देवें । अब यह बताइये कि बात क्या है ?

वैद्य—मैं समझता हूँ कि इसे अब रोका नहीं जा सकता । मैं तो मना कर गया था, लेकिन शायद, इसे बाहर की हवा लग गई है ।

माधव दत्त—नहीं वैद्य जी, मैंने अच्छी तरह से उसकी निगरानी की है । उसे कहीं बाहर जाने ही नहीं दिया—दरवाजा भी प्रायः बन्द रखता था ।

वैद्य—आज एकाएक कैसी एक हवा बह रही है—मैं देख कर आया हूँ कि तुम्हारे सदर दरवाजे से वह हवा वेग से भीतर आ रही है । यह हवा ठीक नहीं है । उस दरवाजे को अच्छी तरह बन्द करके ताला लगा दो; और नहीं तो तुम्हारे यहाँ दो-तीन दिन तक लोगों का आना-जाना बन्द ही रहे तो क्या हर्ज है ! यदि कोई आय जाय ही, तो खिड़की का दरवाजा है ! वह देखो, उस खिड़की से सूरज की रोशनी भीतर आ रही है, उसे भी बन्द कर दो यह रोशनी रोगी को जगा कर रखती है ।

माधव दत्त—अमल आँख बन्द करके सो रहा है । उसका मुँह देखने से ऐसा लगता है, वैद्य जी, कि जो अपना नहीं है उसे मैं घर में लाया, उसे प्यार किया, लेकिन अब शायद उसे नही रख सकूँगा ।

वैद्य—अरे यह क्या ? तुम्हारे घर में तो मुखिया आ रहा है । यह कैसी आफत है ! मैं जाता हूं, भाई । तुम जल्दी से दरवाजा, खिड़की सब बन्द कर दो । मैं घर पहुंचते ही दवा भेज दूँगा । उसे खिला कर देखो, यदि बचेगा तो उसी से बच जायेगा ।

(माधव दत्त और वैद्य का प्रस्थान)

(मुखिया का प्रवेश)

मुखिया—क्यों वे लड़के !

ठाकुरदादा—(जल्दी से खड़ा होकर) अरे, अरे चुप-चुप !

अमल—नहीं फकीर ! तुम सोचते हो, मैं सो गया हूँ ? मैं सोया नहीं हूँ । मैंने सब कुछ सुन लिया है । मुझे मानों बहुत दूर की बात भी सुनाई पड़ रही है । मुझे ऐसा लगता है कि मेरी माँ और मेरे पिताजी दोंनों मेरे सिरहाने बैठे बात कर रहे हैं ।

(माधवदत्त का प्रवेश)

मुखिया—क्यों जी माधव दत्त, आज-कल तो तुम्हारा खूब बड़े बड़ लोगों से सम्बन्ध है ।

माधवदत्त—क्या कहते हो, मुखियाजी ! ऐसा परिहास मत कीजिए हम तो नितान्त ही साधारण लोग हैं ।

मुखिया—तुम्हारा यह लड़का तो राजा की चिट्ठी के लिये अपेक्षा कर रहा है ।

माधवदत्त—वह बच्चा है, पागल है, उस की बात पर क्या ध्यान देना चाहिये ?

मुखिया—नहीं-नहीं, इस में आश्चर्य की क्या बात है । तुम्हारे जैसा योग्य घर राजा को कहाँ मिलेगा ? तभी तो ठीक तुम्हारे घर के सामने ही राजा का नया डाक-घर खुला है । अरे लड़के, तेरे नाम से तो राजा की चिट्ठी आई है ।

अमल—(चौंक कर) सच !

मुखिया—तुम्हारे साथ राजा की मित्रता है । यह झूठ कैसे हो सकता है ! (एक सफेद कागज देकर) हा हा हा हा ! यह रही उनकी चिट्ठी ।

अमल—मुझसे मजाक मत करो ! फकीर, फकीर, तुम बताओ न यह क्या सच मुच उनकी चिट्ठी है !

ठाकुरदाद—हाँ बेटा, मैं फकीर हूँ, मैं कहता हूँ कि यह उन्हीं की

चिट्ठी है ।

अमल—लेकिन मुझे तो इस में कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है;— मेरी दृष्टि में आज सब कुछ सफेद होगया है । मुखियाजी, बताइये-न इस चिट्ठी में क्या लिखा है ।

मुखिया—राजा ने लिखा है, मैं एक-दो दिन में तुम्हारे घर आ रहा हूँ । मेरे लिये चावल का भोग बना कर रखना—राज-भवन में मेरा एक दंड भी मन नहीं लग रहा है । हा हा हा हा !

माधवदत्त—(हाथ जोड़ कर) आपकी दुहाई है, मुखिया जी, इन बातों पर परिहास मत कीजिये !

ठाकुर दादा—परि हास ! कैसा परिहास ! परिहास कर सके इसकी इतनी हिम्मत है !

माधवदत्त—अरे ! ठाकुरदादा,तुम भी पागल होगये हो क्या !

ठाकुरदादा—हाँ, मैं पागल होगया हूँ । तभी आज इस सफेद कागज पर मुझे अक्षर दिखाई पड़ते हैं । राजा ने लिखा है, वे स्वयं अमल को देखने आरहे हैं, वे अपने राज वैद्य को भी साथ ला रहे हैं ।

अमल—फकीर, वह सुनो, उनका बाज़ा बज रहा है । तुम्हें सुनाई नहीं पड़ रहा है ?

मुखिया—हा हा हा हा ! फकीर थोड़ा-सा और पागल होगा तब उसे बाजा सुनाई पड़ेगा ।

अमल—मुखिया जी, मैं सोचा करता था कि तुम मुझ पर नाराज हो,—मुझे तुम प्यार नहीं करते हो । तुम सचमुच राजा की चिट्ठी लाओगे, यह मैंने नहीं सोचा था ।—दो, मुझे अपने पैरों की धूल दो ।

मुखिया—नहीं, यह मानना ही पड़ेगा कि इस लड़के के श्रद्धा-भक्ति है । बुद्धि न सही, लेकिन मन अच्छा है ।

अमल—अब तक चार पहर हो गये होंगे । वह सुनो टन्-टन् टन्—टन्-टन्-टन् । संध्या का तारा आकाश में निकला है क्या, फकीर ? मुझे दिखाई क्यों नहीं पड़ता ?

ठाकुरदादा—उन लोगों ने खिड़की और दरवाजे जो बंद कर रखें हैं। मैं खोल देता हूँ।

(बाहर द्वार पर आघात)

माधवदत्त—वह क्या है? कौन है! कैसा उपद्रव है!

(बाहर से आवाज)

—द्वार खोलो।

माधवदत्त—तुम कौन हो?

(बाहर से आवाज)

—द्वार खोलो।

माधवदत्त—मुखियाजी, ये लोग डाकू तो नहीं है?

मुखिया—कौन है रे! मैं पंचानन मुखिया हूँ। तुम लोगों के मन में डर नहीं है क्या—देखो एक बार, आवाज बन्द हो गई है। पंचानन की पुकार सुन कर बचाव का रास्ता नहीं मिलता है। चाहे वह जितना बड़ा डाकू ही क्यों न हो—

माधवदत्त—(खिड़की से झांक कर) द्वार जो तोड़ डाला है, तभी आवाज नहीं आरही है।

(राजदूत का प्रवेश)

राजदूत—महाराज आज रात को आवेंगे।

मुखिया—बाप रे!

अमल—कितनी रात को आयेंगे, दूत?

दूत—आज रात के दूसरे प्रहर।

अमल—जब मेरा बन्धु प्रहरी नगर के सिंहद्वार पर घंटा बजावेगा—टन्-टन्-टन्,—टन्-टन्-टन्—तब?

दूत—हाँ, तभी! राजा ने अपने बालक-बन्धु को देखने के लिये अपने सब से बड़े वैद्य को भेजा है।

(राज वैद्य का प्रवेश)

राजवैद्य—यह क्या? चारों ओर के दरवाजे, खिड़कियाँ सब कुछ,

बन्द हैं। खोल दो, खोल दो, जितने दरवाजे, जितनी खिड़कियाँ हैं सब खोल दो। (अमल की देह पर हाथ रख कर) बेटा, कैसा लग रहा है?

अमल—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा लग रहा है, वैद्य जी! मुझे अब कोई बीमारी, कोई कष्ट नहीं है। आः सब दरवाजे खुल गये हैं, सब खिड़कियाँ खुल गई हैं, सब तारे दीख रहे हैं—अंधकार के भीतर के नक्षत्र भी दीख रहे हैं।

राजवैद्य—आधी-रात को जब राजा आवेंगे तो तुम बिछौना छोड़ कर उनके साथ जा सकोगे न?

अमल—हाँ, मैं जा सकूँगा। बाहर निकलने पर मुझे कहीं शान्ति मिलेगी, मैं राजा से कहूँगा, इस अंधकार-पूर्ण आकाश में ध्रुवतारा को दिखा दो। मैंने शायद उस तारा को बहुत बार देखा है, किन्तु वह कौन-सा है, यह मैं नहीं जानता हूँ।

राजवैद्य—राजा सब कुछ बता देंगे। (माधव के प्रति) इस घर को राजा के आगमन के लिये फूल से सजा कर रखो। (मुखिया को दिखा कर) और उस आदमी को तो इस घर में नहीं रखा जा सकता।

अमल—नहीं, नहीं वैद्य जी, वह मेरा मित्र है। आप लोग जब नहीं आये थे तो उसी ने मुझे राजा का पत्र लाकर दिया था।

राजवैद्य—अच्छा बेटा, वह जब तुम्हारा मित्र है तो वह भी इस घर में रहेगा।

माधवदत्त—(अमल के कानों में) बेटा, राजा तुम्हें प्यार करते हैं तभी वे स्वयं आ रहे हैं—उन से आज कुछ प्रार्थना करना। अपनी अवस्था तो अच्छी नहीं है, यह तो तुम जानते ही हो।

अमल—वह मैं ठीक कर चुका हूँ, फूफा जी! इस बारे में आप निश्चिन्त रहें।

माधवदत्त—क्या ठीक किया है, बेटा?

अमल—मैं उन से कहूँगा कि वे मुझे अपने डाकघर का डाकिया बना देवें—मैं सर्वत्र उनकी चिट्ठी बाँटता रहूँगा।

माधवदत्त—(ललाट पर कराघात करके) हाय मेरा भाग्य !

अमल—फूफा जी, राजा आयेंगे, उनके लिये कैसा भोग तैयार रखेंगे ?

दूत—उन्होंने कहा है कि यहाँ उनका चावल का भोग होगा।

अमल—चावल ! मुखिया जी, तुमने तो पहले ही कह दिया था। राजा की सारी खबरें तुम जानते हो। हमें तो कुछ नहीं मालूम था।

मुखिया—मेरे घर पर यदि आदमी भेज दो तो राजा के लिये कुछ—

राजवैद्य—कोई आवश्यकता नहीं है। अब तुम लोग सब स्थिर हो जाओ। इसे नींद आरही है। मैं बालक के सिरहाने बैठूँगा—इसे नींद आ रही है। प्रदीप की रोशनी बुझा दो—अब आकाश के तारों से रोशनी आने दो। इसे नींद आ रही है।

माधवदत्त—(ठाकुर दादा के प्रति) ठाकुर दादा, तुम ऐसे मूर्त्ति की तरह हाथ जोड़ कर चुपचाप क्यों हो। मुझे न जाने कैसा डर लग रहा है। यह सब जो देख रहा हूँ, ये क्या अच्छे लक्षण हैं ? ये लोग मेरे घर में अंधेरा क्यों कर रहे हैं। तारों की रोशनी से मुझे क्या होगा ?

ठाकुर दादा—चुप रहो, अविश्वासी ! बोलो मत !

(सुधा का प्रवेश)

सुधा—अमल !

राजवैद्य—उसे नींद आगई है।

सुधा—मैं जो उसके लिये फूल लेकर आई हूँ। उसके हाथों में क्या इन्हें नहीं दे सकूँगी ?

राजवैद्य—अच्छा, लाओ तुम्हारे फूल !

सुधा—वह कब जागेगा ?

राजवैद्य—अभी जब राजा आकर उसे बुलायेंगे।

सुधा—तब तुम लोग उसके कानों में एक बात कह दोगे ?

राजवैद्य—क्या कहूँगा ?

सुधा—कहना कि सुधा तुम्हें भूली नहीं है।

चण्डालिका

प्रथम अंक

मा—प्रकृति, ओ प्रकृति ! अरी गई कहाँ ! न जाने क्या हुआ उसे ! घर में रहती ही नहीं है ।

प्रकृति—यहाँ हूँ मा, यहाँ ।

मा—कहाँ ?

प्रकृति—यह रही, कुँऐ पर ।

मा—गजब कर रही है तू ! दोपहर हो आई, तवे की तरह धरती तप रही है । पानी तो सुबह ही भरा गया है । पड़ोस की लड़कियाँ पानी लेकर कब की घर चली गईं और तू वैशाख की दोपहर की धूप सेवन कर रही है । वह देख गर्मी के मारे कौवे गाछ पर किस तरह चिपके पड़े हैं । पुराण-कथा में सुना है, उमा ने घर त्याग कर धूप में खड़ी होकर तप किया था । तू भी क्या वही कर रही है ?

प्रकृति—हाँ मा, तप ही तो कर रही हूँ ।

मा—आश्चर्य ! किसके लिये ?

प्रकृति—जिसने मुझे बुलावा भेजा है

(प्रकृति का गान)

जे आमारे दियेछे डाक दियेछे डाक
बचन हारा आमा के जे दियेछे वाक् ॥
जे आमारि नाम जेनेछे ओगो तारि
नाम खानि मोर हृदये थाक् ॥

मा—किसका बलावा ?

प्रकृति—मेरे अन्तर में उसने कहा है 'पानी दो'।

मा—हा भाग्य! तुझे कहता है—'पानी दो'। कौन है वह! तेरी अपनी जात का कोई?

प्रकृति—यही तो उन्होंने कहा, वे मेरी ही जात के हैं।

मा—तू ने अपनी जात तो नहीं छिपाई? कहा था कि तू चंडालिनी है?

प्रकृति—कहा था। वे बोले, यह मिथ्या है। वे बोले, श्रावण के काले मेघ का चंडाल-नाम देने से क्या हुआ, उस से न तो उसकी जात बदलती है और न उसके पानी का गुण ही चला जाता है। उन्होंने कहा, अपनी निन्दा मत करो। आत्मनिन्दा पाप है, आत्म-हत्या से भी बढ़ कर।

मा—तेरे मुँह से ये कैसी बात सुन रही हूँ? तुम्हें क्या पूर्व जन्म की कोई बात याद आ रही है?

प्रकृति—यह मेरे नये जन्म की कहानी है।

मा—नया जन्म! वह कब हुआ?

प्रकृति—उस दिन राज-महल में दोपहर के वक्त मा-मरे हुए बछड़े को कुँए के पानी से नहला रही थी। हठात् न जाने कब एक बौद्ध भिक्षु मेरे सामने आकर खड़े हो गये। उनके तन पर पीत वसन था। बोले, पानी दो। मैं चौंक उठी, सिहर कर दूर से प्रणाम किया। सुबह की रोशनी जैसा उनका रूप था। मैंने कहा, मैं चंडाल कन्या हूँ, कुँए का पानी अशुद्ध है। वे बोले, जैसा मनुष्य मैं हूँ, वैसी ही तुम हो, सब जल तीर्थ-जल है, जो तापित को शान्त करता है, तृषित को तृप्त करता है। पहली बार ऐसी बातें सुनी। मैंने अंजलि से उन्हें जल दिया, जिनके पैरों की धूलि लेते वक्त भी हृदय काँप उठता था।

मा—अरी अबोध लड़की, सहसा इतनी धृष्टता तुझ में कहाँ से आ गई? इस पागलपन का तुझे प्रायश्चित करना पड़ेगा। तू क्या अपनी जात भूल गई?

प्रकृति---केवल एक अंजलि जल उन्होंने मेरे हाथ से लिया । वही जल अगाध और असीम हो गया। सात समुद्र एक हो गये उस जल में, वहीं मेरा कुल डूब गया, मुझे नया जन्म मिला।

मा---तेरे मुँह की बात भी बदल गई। तुझे जादू कर दिया है। क्या कहती है कुछ खुद भी समझती है ?

प्रकृति---सारे श्रावस्ती नगर में क्या और कहीं जल नहीं था मा ? इसी कुँए के पास क्यों आये ? इसे ही तो अपने नये जीवन का अध्याय कहती हूँ। वे मुझे मनुष्य की तृष्णा मिटाने के लिये शिरोपा दान करने आये थे। इस महा पुण्य को ही ढूँढ़ रहे थे। जिस जलसे व्रत पूरा हुआ वह जल तो और कहीं नहीं मिलता, किसी तीर्थ में भी नहीं। उन्होंने कहा, वनवास के शुरू में ही जानकी इसी जलमें नहाई थीं, वह जल लाया था गृहक चंडाल। तभी से मेरा मन नाच रहा है। गंभीर कंठ से दिन-रात यही सुन रही हूँ, पानी दो, पानी दो।

(प्रकृति का गान)

बले दाव जल, दाव जल ।
देब आमि, के दियेछे हेन सम्बल ।।
कालो मेघ-पाने येये
एली धेये
चातक विह्वल—
दाव जल, दाव जल ।
भूमि तले हारा
उत्सेर धारा
अंधकारे
कारा गारे ।
कार सुग भीर बाणी
दिल हानि
कालो शिला तले—
दाव जल, दाव जल ।।

मा—न मालूम क्यों ठीक नहीं जँच रहा है। उन लोगों के मन्तर का खेल मेरी समझ में नहीं आता है। आज तेरी बात पहचान में नहीं आ रही है, कल तेरा मुँह भी पहचान नही पाऊँगी। उन लोगों का यह नये प्राण का मन्तर है।

प्रकृति—इतने दिनों तक मैंने उन्हें नहीं पहचाना था। जिन्होंने पहचाना है वे ही पहचान करवायेंगे। तभी राह देख रही हूँ। राज-द्वार पर दोपहर के घंटे बजते हैं, स्त्रियाँ अपने-अपने घर पानी ले जाती हैं, अकेली चील दूर आसमान पर उड़ती रहती है। में अपना घट लेकर कूँए के रास्ते पर आकर बैठ जाती हूँ।

मा—किसके लिये ?

प्रकृति—पथिक के लिये।

मा—तेरे पास कौन पथिक आयेगा, पगली !

प्रकृति—वही पथिक, मा, वही पथिक। उसी में विश्व के सारे पथिक हैं। दिन बीत रहे हैं, लेकिन वे तो नहीं आये। कुछ न कह कर भी वचन देकर गये थे, किन्तु वचन निभाया क्यों नहीं ? मेरा अन्तर मरूभूमि की तरह हो रहा है, धू-धू कर रहा है सारा दिन, तप्त हवा चीख रही है, वह अब पानी कैसे दे ? कोई आकर माँगता ही नहीं है।

(प्रकृति का गान)

चक्खे आमार तृष्णा, ओगो
तृष्णा आमार बक्ख जुड़े।
आमि, वृष्टि विहीन वैशाखी दिन,
सन्तापे प्राण जाय जे पुड़े॥

झड़ उठेछे तप्त हाव आय
मन के सुदूर शून्ये धाव आय,
अवगुंठन जाय ड़े॥
जे-फूल कानन कोरतो आलो,
कालो होये से शुकालो।

झरनारे से दिलो बाधा
तापेर प्रतापे बाँधा
दुःखेर शिखर चूड़े ।।

मा—तेरी आज की बातें मैं कुछ भी नहीं समझ रही हूँ । तुझे कैसा नशा लग गया है, राम जाने ! तू चाहती क्या है, साफ-साफ कह ।

प्रकृति—मैं उन्हें चाहती हूँ । वे सहसा आकर मुझे बता गये कि इस संसार में मैं भी किसी की सेवा कर सकती हूँ । यह कितने आश्चर्य की बात है !

मा—याद रखना प्रकृति, उन लोगों की बातें कान में सुनने की होती है, काम में आने वाली नहीं । अदृष्ट के कारण तूने जिस कुल में जन्म लिया है उसकी अशुचि को धो सके, ऐसा कोई नहीं है । तू अपवित्र है, अपनी अशुचि को बाहर मत फैला, जहाँ तू है, वहीं साव-धानी से रह । इसके बाहर जाने से ही तेरा अपराध होगा ।

(प्रकृति का गान)

फूल बले धन्य आमि माटिर परे,
देवतां ओगो, तो मार सेवा आमार घरे ।।
जन्म नियेछि धूलिते
दया करे दाव भूलिते,
नाइ धूलि मोर अन्तरे ।।
नयन तोमार नत करो
दल गुलि काँपे थरो-थरो ।
चरण-परश दियो-दियो,
धूलिर धन के करो स्वर्गीय,
धरार प्रणाम आमि
तोमार तरे ।।

मा—बेटी, तेरी बातें कुछ मैं भी समझती हूँ । तू स्त्री है, सेवा ही

तेरी पूजा है और वही तेरा सब कुछ है। एक क्षण में जात-पाँत को एक मात्र स्त्री ही लाँघ सकती है। यदि सहसा भाग्य का पर्दा उठ जाता है तो सभी को राजरानी की पकड़ में आना पड़ता है। तुझे भी तो वैसा मौका मिला था। याद है न?

प्रकृति—याद है। मृगया में आकर राजकुमार इसी कुँए पर पानी पीने आये थे।

मा—राजा के महलों में क्यों नहीं गई? तेरा रूप देख कर वह तो मुग्ध हो गया था।

प्रकृति—हाँ, वह मुग्ध हुआ था मुझे देख कर। वह भूल गया था कि मैं मनुष्य हूँ। पशु मारने निकला था,—इसलिये आँखों से केवल पशु ही दिखाई पड़ा, उसे ही सोने की जंजीर से बाँधना चाहा था।

मा—फिर भी शिकार समझ कर उसने यह मुख देखा तो था। अरी भिखारन, उसने क्या तुम्हे नारी के रूप में पहचाना था?

प्रकृति—तुम नहीं समझोगी, नहीं समझोगी। मैं जानती हूँ, इतने दिनों के बाद उसी ने मुझे सर्व प्रथम पहचाना है।

(प्रकृति का गान)

ओगो, तोमार चक्खु दिये मेसे सत्य दृष्टि
आमार सत्य रूप प्रथम करेछे सृष्टि ॥
तो माय प्रणाम, तो माय प्रणाम,
तो माय प्रणाम शतबार ॥
आमि तरुण अरुण लेखा,
आमि बिमल ज्योतिर रेखा,
आमि नवीन श्यामल मेघे
प्रथम प्रसाद वृष्टि।
तोमाय प्रणाम, तोमाय प्रणाम,
तोमाय प्रणाम शत बार ॥

उन को ही चाहती हूँ मा! नितान्त रूप से उन का दर्शन ही

चाहती हूँ। उनके सामने अपने इस जन्म की पूजा की डाली सजा कर रखूँगी। इससे उनके चरण अशुचि नहीं होंगे। सभी लोग मेरी स्पर्द्धा को देख लें। गौरव से मैं यह नहीं कह सकती कि मैं तुम्हारी ही सेविका हूँ, नहीं तो सब के पैरों-तले दासी के रूप में चिरकाल के लिये बँध जाऊँगी।

मां—झूठा अभिमान क्यों करती है, बेटी। दासी के रूप में ही तू जन्मी है। विधाता के लेख कौन खंडन करेगा?

प्रकृति—छि: छि: मा, मैं तुम्हें फिर कहती हूँ, यह मत भूलो कि मिथ्या निन्दा पाप है राजवंश में कितनी दासियों का जन्म होता है, मैं वह दासी नहीं हूँ। ब्राह्मण के घरों में कितने चंडालों का जन्म होता है, मैं वह चंडाल नहीं हूँ।

मां—तुझ से बात करूँ इतनी बुद्धि मुझ में नहीं है। यही उचित होगा कि मैं उनके पास जाऊँ और उनके पैर पकड़ कर कहूँ तुम घर-का अन्न लेते हो, मेरे घर से केवल एक अंजलि पानी की ही ले लेना।

(प्रकृति का गाना)

नाना, डाकबोना, डाकबोना अमन करे बाइरे थेके।
पारि जोदि, अन्तरे तार डाक पठाबो आन बो डेके।
देबार व्यथा बाजे आमर बुकेर तले
नेबार मानुष जानि ने तो कोथाय चले,
एइ देवा नेबार मिलन आमार घठावे के॥
मिलबे ना कि मोर बेदना तार बेदना ते,
गंगा धारा मिशवे ना कि कालो जमुना ते
आपनि की सुर उठलो बेजे
आपना होते ऐसे छे जे
गे लो जखन आशर बचन गे छे रेखे॥

पृथ्वी पर जब अनावृष्टि का अधिकार है तो एक लोटा पानी संग्रह करके क्या होगा मा? क्या बादल अपने आप आकाश में नहीं

भरेंगे ?

मां—इन बातों से क्या फायदा ? बादल आते हैं तो अपने आप ही आते हैं और नहीं आते हैं तो नही आते हैं। खेती यदि सूख जाती है तो उन्हें क्या ? हम आकाश की ओर देखने के सिबाय कर ही क्या सकते हैं ?

प्रकृति—ऐसा नहीं होगा। बैठी नहीं रहूँगी, तू मन्तर जानती है, वही मन्तर मेरी बाहु का बंधन होगा, उन्हें बाँध लायेगा।

मा—अरी पगली ! कहती क्या है ? तेरा साहस तो बढ़ता ही जा रहा है ! आग से खेलना चाहती है ? ये क्या साधारण मनुष्य हैं ? इन पर मन्तर का जोर चलाऊँ ? कल्पना से ही हृदय धड़कता है।

प्रकृति—राजकुमार के लिये तो मन्तर पढ़ना चाहती थी तू ? तब साहस कहाँ से आ गया था ?

मा—राजा का डर नहीं था। वह शूल पर चढ़ा सकता है। किन्तु ये तो कुछ नहीं करते।

प्रकृति—मैं अब नहीं डरती, यदि डरूँ तो पुनः नीचे गिर जाऊँगी फिर अपने को भूलूंगी फिर अंधेरी कोठरी में रहना पड़ेगा। वह तो मरण से भी अधिक है ! उन्हें लाना ही पड़ेगा, इतनी बड़ी बात इतने जोर से कह रही हूँ, यह क्या कम आश्चर्य की बात है ? यह आश्चर्य तो उन्होंने ही घटाया है। और भी आश्चर्य क्या नहीं घटेगा, क्या वे मेरे पास नहीं आयेंगे, क्या मेरे आधे आँचल पर नहीं बैठेंगें ?

मा—उन्हें मैं शायद ला सकती हूँ। लेकिन तू क्या उसका मूल्य दे सकेगी ? तेरे पास शेष कुछ नहीं रहेगा।

प्रकृति—नहीं, कुछ न सही। मेरे जन्म जन्मान्तर का दाय कुछ न रहे। एक बार सारा चुका सकूँ तो मुक्त हो जाऊँ तभी तो उन्हें चाहती हूँ। मेरे पास कुछ नहीं बचेगा। सिर्फ युग-युगान्त से अपेक्षा करता हुआ मेरा यह जन्म सफल हो जायेगा; सार्थक होगा तभी तो मैंने इतनी आश्चर्य जनक बात सुनी—पानी दो आज विदित हुआ कि मैं भी दे सकती

हूँ। यह बात सबने मुझ से छिपा कर रखी थी। अपना सब कुछ देने के लिये ही उनकी राह देख रही हूँ।

मा—तू धर्म नहीं मानती है ?

प्रकृति—कैसे कहूँ ! मैं उन्हें ही मानती हूँ जो मुझे मानते हैं। जो धर्म अपमान करता है वह झूठा धर्म है। मुझे जबर्दस्ती यही धर्म सिखाया गया है। किन्तु उस दिन से इस धर्म को मानना मेरे लिये निषिद्ध हो गया है। मुझे अब किसी का डर नहीं है—तू तेरा मन्तर पढ़ सकती है, भिक्षु को ले आ चंडाल-कन्या के पास। मैं ही उन्हें सम्मान दूँगी। इतना बड़ा सम्मान और कोई नहीं दे सकता।

(प्रकृति का गान)

आमि तारेइ जानि तारेइ जानि
आमाय जे जन आपन जानें,
तारि दाने दावि आमार
जार अधिकार आमार दाने ॥
जे आमारे चिनते पारे
सेइ चेनाते चिनि तारे,
एकइ आलो चेनार पथे
तार प्राणे आर आमार प्राणे ॥
आपन मनेर अंधकारे ढाक लो जारा
आमि तादेर मध्ये आपन-हारा।
छुँइये दिलो सोनार काठि,
घुमेर ढाका गेलो फाटि,
नयन आमार छुरेछे तार
आलो-करा मुखेर पाने ॥

मा—तुझे शाप लगने का डर नहीं है ?

प्रकृति—शाप तो जन्म से ही लगा हुआ है। एक शाप के जहर से दूसरे शाप का जहर शान्त हो जाता है। मैं अब कुछ नहीं सुनूँगी, मा,

में कुछ सुनना नहीं चाहती। तू अपना मन्त्र शुरू कर दे। अब देर नहीं सही जाती।

मा—अच्छा, तो उसका नाम क्या है, बता !

प्रकृति—उनका नाम है आनन्द।

मा—आनन्द ? भगवान् बुद्ध के शिष्य ?

प्रकृति—हाँ वही भिक्षु।

मा—तू मेरी लाड़ली बेटी है, मेरी आँखों की मणि है। तेरे कहने पर ही मैं इतना बड़ा पाप कर रही हूँ।

प्रकृति—कैसा पाप ? जो सब को नजदीक लाते हैं उन्हें अपने नजदीक लाऊँगी, इसमें दोष क्या है ?

मा—वे पुण्य के प्रताप से मनुष्य को खींचते हैं। हम मन्तर से वश में करते हैं, पशुओं को जैसा फाँसा जाता है। हम मथ कर पाँक ही उठाते हैं।

प्रकृति—यह तो अच्छा ही है, नहीं तो पंकोद्धार नहीं होगा।

मा-तुम महा पुरुष हो, अपराध करने की मुझ में जितनी शक्ति है, क्षमा करने की शक्ति तुम में उससे कहीं अधिक है। प्रभु, आपका असम्मान करने जा रही हूँ, फिर भी क्षमा करना।

प्रकृति—तुम्हें किस का डर है मा ! मन्त्र तो मैं ही अपनी मा के मुख से पढ़ रही हूं। मेरी वेदना यदि उन्हें बुलाती है, और यही यदि मेरा अपराध है तो ऐसा अपराध मैं करूँगी, करूँगी ! जिस विधान में केवल दंड ही है, सान्त्वना नहीं है, वैसे विधान को नहीं मानूँगी।

प्रकृति का गान

दोषी करो, दोषी करो।
धुलाय-पड़ा म्लान कुसुम
पायेर तलाय धरो॥
अपराधे भरा डालि
निज हाते कर खालि,

तार परे सेइ शून्य डालाय
तो मार करुणा भरो ।।
तुम उच्च आमि तुच्छ—धोरबो तो माय फाँदे
आमार अपराधे ।
आमार दोष के तो मार पुण्य
कोरबे तो कलंक शून्य,
खमाय गेंथे सकल त्रुटि
गलाय तो मार परो ।।

मा—तेरा तो बहुत साहस है !

प्रकृति—मेरा साहस ! उनका साहस जरा सोच । जिस बात को मेरे पास कोई नहीं कह सका, उन्होंने सहज भाव से कहा—पानी दो ! उतनी सी वाणी का कितना तेज है—मेरा सारा जन्म आलोकमय हो गया; हृदय पर काला पत्थर चिरकाल से चढ़ा हुआ था, उसे उन्होंने हटाया । पाषाण-भार के उतरते ही रस की धारा फूट पड़ी । तेरा भय अलीक है, तूने तो अभी उन्हें देखा ही नहीं है । श्रावस्ती नगर में सुबह की भिक्षा समाप्त करके, श्मशान और खेतों को लाँघ कर यहां क्यों आये थे ? मुझ जैसी लड़की को सिर्फ एक वाक्य कहने—पानी दो । बलिहारी जाऊँ, कहाँ से इतनी दया, इतना प्रेम आया । और आया भी ऐसी के पास जो सबसे अयोग्य हो । अब मुझे किसका डर ! जल दो ! वह जल जो मेरे इस जन्म में संचित हो उठा है, उसे न देने पर तो मैं जीवित ही नहीं रह सकूँगी । जल दो ! एक क्षण में जान गई, मेरे पास जल है, असीम जल, यह मैं किसे कहूँ ! तभी तो दिन-रात उन्हें बुलाती हूँ । यदि वे नहीं सुन पायें तो, डर मत, अपना मन्तर पढ़ दे !

मा—मैदान के उस पार रास्ते पर वे कौन जा रहे हैं प्रकृति ! पीले वस्त्र पहने ?

प्रकृति—ये लोग तो संघ के श्रमण हैं। उनका मन्त्र नहीं सुनाई पड़ रहा है ?

रास्ते पर श्रमणों का दल

बुद्धो सुसुद्धो करुणा महान्नवो
योच्चान्त सुद्धव्वर ग्यान लोचनो,
लोकस्स पापू पकिलेस घात को
वन्दामि बुद्धम् अहमाद रेण तम् ।

प्रकृति—देखो मा, वे सब के आगे-आगे चल रहे हैं । इस कुँए की ओर एकबार भी नहीं देखा । और एक बार तो कह सकते थे, जल दो । मैंने सोचा था वे मुझे त्याग करके नहीं जायेंगे—मैं उन्हीं के हाथ से नई सृष्टि हूँ ।

(बैठ कर बार-बार धरती से माथा ठोक कर)

यह धूल, यह धरती ही तेरी अपनी है—अभागन, किसने तुझे एक क्षण के आलोक से मुग्ध किया था ? इसे क्या दया कहते हैं ? अन्त में तो इसी धूल में मिलना पड़ा, और चिरकाल तक यहीं पड़ा रहना, लोगों के पैरों के तले ।

मा—बेटी, भूल जा, यह सब भूल जा । सोच ले, तेरे एक क्षण का सपना टूट गया और वे चले गये । जो स्थिर नहीं है, वह जितना जल्दी नष्ट हो जाय उतना ही अच्छा होता है ।

प्रकृति—यह प्रति दिन का अभाव, यह प्रति मुहूर्त्त का अपमान अन्तर के पिजड़े की चिड़िया को पंख मरोड़ कर मरना सपना होता है, मा ! जो हृदय की गति के साथ मिल गया है, वह सपना है ? और वे, उनके न कोई बंधन है, न कोई सुख-दुःख की परवाह है, न दुनिया का झमेला है—शरत् के मेघ की तरह उड़ रहे हैं—वे ही जाग रहे हैं, वे क्या स्वप्न नहीं हैं ?

मा—तेरा कष्ट देखा नहीं जाता प्रकृति ! तू उठ । मन्त्र पढ़ कर मैं उन्हें लाऊँगी ही । इस धूल भरे रास्ते से लाऊँगी । 'कुछ नहीं चाहिये' उनका अहंकार तोड़ूँगी—वे दौड़ कर आयेंगे ।

प्रकृति—मा, तुम्हारा मन्त्र जीव-सृष्टि के शुरू का है । इन लोगों

का मन्त्र कच्चा है। वे तुम से नहीं रुकेंगे। तुम्हारे मन्त्र के जोर से उनका मन्त्र ढीला पड़ जायेगा। उन्हें हारना ही पड़ेगा।

मा—वे लोग कहाँ जा रहे हैं ?

प्रकृति—वे जाते हैं, बस, इतना ही जानती हूँ। वे जाते कहीं नहीं हैं। जब वर्षा आती है तो चातुर्मास्ये के लिये बैठते हैं। फिर ये जायेंगे, कहाँ जायेंगे, यह नहीं मालूम ! इसे ही वे लोग 'जागना' कहते हैं।

मा—पगली, तब क्या कह रही थी मन्तर के बारे में ? वे कहाँ जा रहे हैं—कहाँ से लौटा कर लाऊँ ?

प्रकृति—जहाँ भी जाएँ लौटाना ही होगा, तुम्हारे मन्तर से दूर नहीं हैं।

(प्रकृति का गान)

जाय जोदि जाक सागर तीरे ।
आबार आसुक, आबार आसुक, आसुक फिरे !
रेखे देबो आसन पेते
हृदयेते,
पथेर धूलो भिजिये देबो अश्रु नीरे ॥
जाय जोदि जाक शैल शिरे ।
आसुक फिरे, आसुक फिरे ।
लुकिये रबो गिरि गुहाय
डाकबो उहाय—
आमार स्वपन ओर जागरण रइबे घिरे ॥

मुझ पर उन्होंने दया नहीं की, मैं भी उन्हें दया नहीं करूँगी। तेरा सब से जो निष्ठुर मन्त्र है, उसे ही पढ़ना। मुझे त्याग कर कैसे जायेंगे।

मा—चिन्ता मत करो। असाध्य नहीं है। तुझे माया दर्पण दूँगी। उसे हाथ में लेकर नाचना। उस की छाया दर्पण में पड़ेगी। उसी में देखती रहना, वह कितनी दूर लौट कर आया।

प्रकृति—उधर देख, पश्चिम में बादल घुमड़ आये हैं। तूफानी बादल! मन्तर लगेगा मा, लगेगा। शुष्क साधन सूखे पत्ते की तरह उड़ जायेगा। आलोक बुझ जायेगा। रास्ता दिखाई नहीं पड़ेगा। घूम-फिर कर इसी दरवाजे पर आयेंगे, जिस तरह आँधी से घोंसले की चिड़िया अँधेरे आँगन में आकर गिरती है। मेरा हृदय काँप रहा है, मन में बिजली कौंध रही है, समुद्र की तरंग फूल रही है। इसके बाद और कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है।

मा—अभी भी सोच ले। बीच में डर तो नहीं जायेगी? मन्त्र जब ऊँचाई पर चढ़ जायेगा तो सहसा रोकने पर मेरे प्राण निकल जायेंगे।

प्रकृति—तू डरती है, किसके लिये? वह क्या साधारण मनुष्य है। उसका कुछ नहीं बिगड़ेगा—अन्त तक आग को लाँघ कर भी वह आयेगा। मैं मानस में देख रही हूँ, सामने प्रलय की रात्रि है, मिलन का तूफान है और विनाश का आनन्द है।

(प्रकृति का गान)

हृदय मन्द्रिलो डमरू गुरू गुरू,
घन ये घेर गुरू, कुटिल कुँचित,
होलो रोमांचित वन वनान्तरः
दुलिल चंचल वक्ष हिन्दोले
मिलन स्वप्ने से कोन् अतिथि रे।
रुघन-वर्षण-शब्द मुखरित
वज्र-सचकित मस्त शर्बरी,
मालती-बल्लरी काँपाय पल्लव
करूण कल्लोले,
कानन शंकित झिल्लिझंकृत॥

द्वितीय अंक

प्रकृति—मेरा हृदय विदीर्ण हो जायेगा। मैं दर्पण में नहीं देखूँगी। कितना भयंकर तूफान है ! वनस्पति क्या अपना अभ्रभेदी गौरव त्याग कर धरती पर गिर पड़ेगी ?

मा—देख बेटी, यदि अब भी चाहे तो मैं अपने मंत्र को याद करूँ। इससे यदि मेरे प्राण जाँय तो जाँय, महाप्राण की रक्षा तो हो जायेगी।

प्रकृति—यही अच्छा है, मा, रहने दे तेरा मंत्र। अब उसकी जरूरत नहीं है।—नहीं, नहीं, नहीं—अब रास्ता ही कितना है ! अन्त तक उसे आने दे मेरे पास, मेरे हृदय के पास। फिर सारा दुःख अपना विश्व संसार देकर मिटा लूँगी। गंभीर रात को पथिक आयेगा, हृदय की सारी भभकन से प्रदीप जलाऊँगी, अमृत के झरने से उसका अभिषेक होगा— जो श्रान्त है, तप्त है, क्षत-विक्षत है। और एक बार वह कहेगा—पानी दो—मेरे-हृदय समुद्र का जल। वह दिन भी आयेगा, तेरा मंत्र चालू करदे, करदे चालू।

(प्रकृति का गान)

दुःख दिये मेटाव दुःख तो मार,
स्नान करार अतल जले बिपुल वेदनार ॥
मोर संसार दिबे जे ज्वालि,,
शोधन हबे ए मोहेर कालि,
मरण-व्यथा दिबो तोमार चरणे उपहार ॥

मा—बेटी, इतनी देर लगेगी, यह नहीं जानती थी। मेरा मंत्र तो अब पूरा होने वाला है। मेरे प्राण कंठ में अटक रहे हैं।

प्रकृति—डरो मत, मा, थोड़ी देर और ठहर जा ! अधिक देर नहीं है।

मा—आषाढ़ तो आ गया, उनका चातुर्मास्य भी तो शुरू हो गया हैं।

प्रकृति—वे वैशाली के गोशिरसंघ में गये हैं।

मा—तू कितनी निष्ठुर है ! वैशाली तो बहुत दूर है।

प्रकृति—अधिक दूर नहीं है मा। केवल सात दिन का रास्ता है। लेकिन पन्द्रह दिन तो कट गये। अब ऐसा मालूम होता है कि वे आ रहे हैं, जो बहुत दूर थे, जो लाख योजन पर थे, जो चाँद और सूर्य के उस पार थे, वे ही आ रहे हैं। उनके आगमन पर मेरा हृदय काँप रहा है।

मा—मैंने मंत्र का सारा अनुष्ठान पूरा कर लिया है। इतने में तो वज्रपाणि इन्द्र भी खिंच कर आ जाते। फिर भी उसे देर हो रही है। देख, कैसा मरणान्तक युद्ध चल रहा है। दर्पण में क्या देख रही थी ?

प्रकृति—पहले सारे आसमान में गंभीर कोहरा दिखाई पड़ा, युद्ध में हारे हुये देवताओं के सफेद मुँह जैसा। कोहरे के बीच से अग्नि की झलक निकलती हुई देखी। फिर, कोहरा छिन्न-भिन्न हो गया—आसमान का रंग लाल हो गया। दूसरे दिन पीछे घने काले बादल दिखाई पड़े। बिजली चमक रही थी, वहीं वे खड़े थे—उनके सर्वाङ्ग को घेर कर आग जल रही थी। डर के मारे मेरा रक्त ठंडा हो गया। दौड़ कर तुझे कहने आई—अभी बन्द कर दे अपना मंत्र। किन्तु, शिव नेत्र में काठ की तरह निश्चल होकर बैठी थी। तुझे वाह्य ज्ञान नहीं था। ऐसा लगा तेरे मन में भी कहीं आग जल रही हो। जिस पावक से वे अपने मन को ढक रहे थे, तेरी अग्नि नागिन फू'फू करती हुई उधर ही झपट रही थी। लौट कर जाकर दर्पण देखा तो रोशनी चली गई थी—केवल दुःख, दुःख, असीम दुःख की मूर्त्ति दिखाई पड़ी।

मा—मर क्यों नहीं गई उसे देख कर ! उसी का प्रभाव तो मेरे अन्तर को बींध रहा था।

प्रकृति—जिस दुःख का रूप देखा वह तो उनके अकेले का नहीं था, वह मेरा भी था, हम दोनों का। भीषण आग की ताप से सोने के साथ ताँबा मिल पाया है।

मा—तुझे डर नहीं लगा ?

प्रकृति—डर से बहुत बड़ा, मानो मैंने सृष्टि के देवता को देखा, देवता से भयंकर—अपने काम में आग को नियुक्त कर रखा है। और आग उनके दबाव से केवल कराह रही है। सप्तधातु के पात्र में क्या है, उनके चरणों के पास—प्राण या मृत्यु ? मेरे मन में एक आनन्द उठने लगा। उसे क्या कहूँ ? उसे कहूँगी नई सृष्टि का विराट वैराग्य चिन्ता, भय, दया, दुखी कुछ नहीं है—टूटता है, जलता है, पिघल जाता है। उससे अग्नि स्फुलिंग निकलते हैं। मेरा सारा मन अग्नि शिखा की तरह नाच उठा।

(प्रकृति का गान)

हे महादुःख, हे रुद्र, हे भयंकर,
ओहे शंकर, हे प्रलयंकर।
होक जटा निःसृत अग्नि भुजंगम—
दंशने जर्जर स्थावर जंगम,
घन-घन झन-झन, झननन झननन
पिणाक टंकरो ॥

मा—कैसा देखा तेरा भिक्षु को ?

प्रकृति—देखा, वे अनिमेष दृष्टि से, गो-धूलि आकाश के तारे की तरह बहुत दूर की ओर देख रहे हैं। इच्छा हुई अपने पास से अनन्त योजन की दूरी पार चली जाऊँ।

मा—तू दर्पण के सामने जब नाच रही थी तो क्या उन्होंने तुझे देखा था ?

प्रकृति—धिक्-धिक्, ! ऐसा लग रहा था, बार-बार वे क्रुद्ध नेत्रों से अभिशाप दे रहे हैं। फिर संयत होकर क्रोध को शान्त करते हैं। अन्त

में देखा, उनका क्रोध कांपता हुई उन्हीं की ओर सेल की तरह गया और उनके मर्म में बिंध गया।

मा—तूने यह सब सहा ?

प्रकृति—आश्चर्य चकित हो गई। मैं, तुम्हारी बेटी में जिसे कोई नहीं जानता, उसका दुःख और इसका दुःख एक होगया। सृष्टि में कहाँ ऐसा हुआ होगा— इतनी बड़ी बात किसने सोची होगी ?

मा—यह उत्पात कब शान्त होगा ?

प्रकृति—जब तक न मेरा दुःख शान्त होगा। तब तक दुःख उन्हें दूँगी ही। मुझे यदि मुक्ति नहीं मिलेगी तो उन्हें मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

मा—तूने अंतिम बार दर्पण कब देखा है ?

प्रकृति—कल शाम को। वैशाली के सिंहद्वार को कुछ-दिन पहले ही पार कर गये थे। रात अंधेरी थी, वे चुपचाप, श्रमणों के अज्ञात में चले गये थे , इसके बाद कभी उन्हें नाव से नदी पार करते देखा, कभी दुर्गम पर्वत को लाँघते देखा, कभी जंगल में अकेले चलते देखा। जितना समय बीतता जाता है, स्वप्न की तंद्रा बढ़ती ही जाती हैं, वे निर्विचार से पथ पर चल रहे हैं, अपने मन के सारें छंद का निपटारा करते रहते है, उन के मुख पर विखलता के चिह्न, शरीर पर शैथिल्य—दोनों आंखों के सामने मानो वस्तु नहीं हैं, अच्छाई बुराई, सत्य, मिथ्या कुछ नहीं है। केवल एक चिन्ताहीन अन्धा लक्ष्य है जिस का कोई अर्थ नहीं होता।

मा—आज वे कहाँ है अन्दाज कर सकती हैं ?

प्रकृति—कल संध्या के वक्त उन्हें उपली नदी के तीर पारल गाँव में देखा था। नव वर्षा की उन्मत्त जल-धारा—धार के पास पुराने पीपल में झींगुर चमक रहे थे। नीचे एक वेदी थी—यहां आते ही सहसा वे चौंक कर खड़े होगय। बहुत परिचित स्थान लगा,— मैंने सुना है, इस वेदी पर बैठ कर भगवान बुद्ध ने राजा सुप्रभाष को उपदेश दिया था। वहां वे दोनों हाथों से मुँह ढक कर बैठ गये। सहसा स्वप्न

मानो टूट गया। तभी दर्पण को फेंक दिया—चिन्ता हुई, न जाने क्या दिखाई पड़े। इसके बाद सारे दिन कुछ जानने की प्रकृति नहीं हुई। अब रात का अंधकार घना हो रहा है। प्रहरी पुकारता हुआ राजपथ से जा रहा है—एक प्रहर शायद कट गई। अब तो वक्त नहीं है मा, इस रात को व्यर्थ मत जाने दे। अपनी सारी ताकत मंत्र में लगा दे।

मा—अब सहा नहीं जाता बेटी। मन्त्र दुर्बल हो रहा है। मेरा शरीर भी अवश हो रहा है।

प्रकृति—दुर्बल होने से नहीं चलेगा। आशा मत छोड़! लौटने के लिए उन्होंने मुंह घुमाया है। देख चिरकाल के लिये, मेरे इस जन्म के संसार से वे चले जायेंगे। शायद फिर कभी उनके दर्शन न पाऊँ। तब वही चण्डालिनी रह जाऊँगी। यह मिथ्या मैं सह न सकूँगी। तेरे पैरों पड़ती हूँ मा, एक बार अपनी सारी शक्ति लगादे। अब अपना वसुंधरा-मन्त्र शुरू कर।

(प्रकृति का गान)

आमि तो आरि मादिर कन्या,
जननी वंसुधरा।
तबे आमार मानब जन्म
केनो बंचित करा॥
पवित्र जानि जे तुमि
पवित्र जन्म भूमि—
मानव कन्या आमि जे धन्या
प्राणेर पुष्पे भरा॥
ओरा तोमाय तुच्छ करे,
रहि तोमार वृन्त, परे।
आमि जे तोमार आछि
नितान्त काछा काछि

तोमार मोहनी शक्ति दाव आमारे
हृदय-प्राण हरा ।।

मा—जिस तरह समझाया था उसी तरह प्रस्तुत है न ?

प्रकृति—हाँ। कल शुक्ला द्वितीया की रात थी। गंभीरा में अवगाहन-स्नान कर चुकी हूँ। यह देख, चावल, फूल, सिंदूर आदि सात रंगों से आँगन पर चक्र आँक रखा है। पीले रंग की झण्डी लगाई है, थाली में चन्दन और माला है, दीप जला रखा है। धान के अंकुर जैसी साड़ी और चम्पा फूल के रंग का ओढ़ना पहना है। पूर्व की ओर मुंह करके सारी रात उनकी मूर्ति का ध्यान किया है। सोलह सूत की राखा भी हाथ में पहन रखी है।

मा—अच्छा, तो नाच, प्रदक्षिणा कर। मैं वेदी के पास मन्त्र पढ़ती हूँ।

(प्रकृति का गान)

मम रुद्ध मुकुल दल ऐसे
सौरभ अमृते
मम अख्यात तिमिर हले ऐसो
गौरव निशीथे ।।
एक मूल्य हारा मम शुक्ति
ऐसो मुक्ता कणाय तुमि मुक्ति,
मम मौनी वीणार तारे तारे
एसो संगीते ।।
नव अरुठोर एसो अहिवान—
चिर रजनीर होक अवसान, ऐसो।
ऐसो शुभस्थित-अश्रु धाराय
सिंदूर पराव उषारे
तव तरिंमते ।।

मा—प्रकृति, अब अपनी दर्पण में देख। देख, वेदी पर काली-छाया

पड़ रही है ? मेरी छाती फट रही है, मैं और सह नहीं सकती। दर्पण में देख और कितनी देर है।

प्रकृति—नहीं, मैं नहीं देखूँगी—मैं अन्तर में सुनूँगी, ध्यान में देखूँगी। थोड़ी देर और ठहर जा, या—वे अब आने ही वाले हैं। वह देख तूफान उड़ रहा है, पृथ्वी डाँवाडोल होने लगी।

मा—यह तेरे ही अभिशाप के कारण हो रहा है, अभागन ! मुझे तो मार डाला। जान निकल रही है।

प्रकृति—अभिशाप नहीं, मा, यह मेरा जन्मान्तर है। मरण का सिंह-द्वार खुल रहा है। द्वार टूट गया, प्राचीर टूटा, मेरे इस जन्म की मिथ्या भी टूट गई। भय से मेरा मन काँप रहा है, आनन्द से प्राण में कम्पन हो रहा है। हे मेरे सर्वस्व, तुम आ रहे हो—अपने अपमान के शिखर पर तुम्हें बैठाऊंगी। आनन्द और भय से तुम्हारा सिंहासन बनाऊंगी।

मा—मेरा अन्त निकट आ रहा है। अब सह्य नहीं होता। जल्दी से मेरा दर्पण देख !

प्रकृति—मा, डरती क्यों है। उनका पथ समाप्त हो रहा है—इसके बाद ? इसके बाद क्या होगा, मैं यही सोच रही हूँ। इतने दिनों निष्ठुर दुःख इसी में समा जायेगा ? किसके लिये यह पथ इतना दीर्घ, इतना दुर्गम है ? इसका शेष कहाँ ! सिर्फ मुझ में !

(प्रकृति का गान)

पथेर शेष को थाय शेष को थाय ?
की आछे शेष ?
ए तो कामोना ए तो साधना को थाय मेरे ?
देव उठे-पड़े कोंदार,
सन्मुखे घन ओंधार—
पार आछे कोन देशे ?
आज भावि मने मने

मरीचिका-अन्वेषणे—
बुझि तृष्णार शेष नेइ—
मने भय लागे सेइ,
हाल-भाँगा पाल छेड़ा व्यथा
चलेछे निरुद्देशे ॥

मा—अरी निष्ठुर, मुझ पर दया कर। मैं अब नहीं सह सकती। जल्दी से दर्पण देख!

प्रकृति—(दर्पण देख कर ही उसे फेंक देती है)—मा, ओ मा, रहने दे, रहने दे, रहने दे तेरा मन्तर। अभी बन्द कर! अरी राक्षसी तूने यह क्या किया? तू मर क्यों नहीं गई? हे 'भगवान' मैंने यह क्या देखा! कहाँ है मेरा वह दीप, उज्वल, स्वर्गीय आलोक! कैसा म्लान होकर, आत्म पराजय का प्रकांड बोझा लिये मेरे द्वार पर आया है। सर झुका कर आया है। यह सब दूर हो—

(पैरों से मन्त्र के उपकरण तोड़ दिये)

अरी तू चंडालिनी यदि नहीं है तो बीर का अपमान मत कर। उन की जय हो, उन की जय हो।

(आनन्द का प्रवेश)

प्रभु, आये हो मुझे उद्धार करने—तभी तुम्हें इतना दुःख मिला—क्षमा कीजिये। असीम ग्लानि को पदाघात से दूर कर दो। तुम्हें धरती पर उतार लाई हूँ, नहीं तो मुझे कैसे अपने पुण्यलोक में ले जाते। हे निर्मल, तुम्हारे पैर में जो धूल लगी है वह सार्थक होगी। मेरा माया का आवरण खुल कर धूल में मिल जायेगा। तुम्हारी जय हो।

मा—प्रभु की जय हो! मेरे पाप और प्राण दोनों ही तुम्हारे चरणों पर गिरते हैं। मेरी यात्रा यहीं समाप्त होगई—तुम्हारे क्षमा के तीर पर।

(मृत्यु)

आनन्द—

बुद्धो सुसुद्धो करुणा महान्नवो
योच्चन्त सुद्धव्वर-ञाँन लोचनो ।
लोकस्स पापूपकिलेस धातको
वन्दामि बुद्धम् अहमादरेण तम् ।

ज्ञातव्य

'चंडालिका' रवीन्द्रनाथ की मूल बँगला नाटिका, 'चंडालिका' का हिन्दी अनुवाद है। इसकी कथा राजेन्द्रलाल मित्र सम्पादित ने पाली बौद्ध साहित्य में शार्दूल कर्णाव दान का जो शंक्षिप्त परिचय दिया गया है, उसी से संगृहीत है। कहानी का घटनास्थल श्रावस्ती नगर है। भगवान् बुद्ध उस वक्त अनथापिंडद के उद्यान में प्रवासी रूप में रह रहे थे। उन के प्रिय शिष्य आनन्द एक दिन एक गृहस्थ के यहाँ से भोजन कर के आ रहे थे। रास्ते में उन्हें प्यास लगी। उन्होंने एक कुँए के पास चंडाल-कन्या प्रकृति को पानी भरते देखा। आनन्द ने प्रकृति से जल माँगा। प्रकृति ने अंजली से उन्हें पानी दिया। आनन्द का रूप देख कर प्रकृति मुग्ध होगई। उन्हें पाने के लिये वह पागल होगई। जब और कोई उपाय नहीं सूझा तो अपनी मा से सहायता माँगी। उस की मा जादू जानती थी। उसने आँगन में गोबर से लेप दिया और एक वेदी वनाई। उस वेदी पर आग जलाई और मंत्र उच्चारण करके १०८ अर्क के फूल आग में डाले। आनन्द मन्त्र शक्ति को रोक नहीं सके। रात को वे प्रकृति के घर आये। वे जब वेदी पर बैठ गये तो प्रकृति उन के लिये बिछौना बिछाने लगी। आनन्द के मन में तब परिताप उठा। परिमाण के लिये वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे।

भगवान् बुद्ध अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा आनन्द की परिस्थिति जान गये। तब उन्होंने एक बौद्ध मन्त्र पढ़ा। इस मन्त्र के प्रभाव से

चंडालिनी की वशीकरण विद्या दुर्बल होगई और आनन्द मठ में लौट गये।

नाटिका में आये हुये मूल बँगला गीतों की हिन्दी छाया क्रम से आगे दी जा रही है।

पृष्ठ—१ जिसने मुझे पुकारा है, वाणी दी है, मेरा नाम जाना है, उसका नाम मेरे हृदय में रहे।

पृ०३ कहता है—पानी दो, पानी दो। मैं पानी हूँ, इतनी सम्बल किसने दी है? काले मेघ को देखकर विह्वल चातक पानी के लिये आये हैं, उत्सव की धारा भूमि पर लूट रही है। किसकी सुगंभीर वाणी ने काले पत्थर को विचलित किया।

पृ०४—मेरी आँखों में, अंतर में तृष्णा है। में वृष्टि विहीन वैशाख का दिन हूँ। संताप से प्राण जल रहे हैं। तप्त हवा में तूफान आया है। मेरा मन सुदूर शून्य की ओर जाता है। मेरा अवगुंठन उड़ रहा है। जो फूल बगीचे में सुंदर लगता था, वह सूख गया। ताप और दुःख से बँधे हुये झरने को किसने बाधा दी है।

पृ०५—फूल कहता है मे धन्य हूँ। हे देवता, तेरी सेवा मेरे घर में ही है। मैंने धूल से जन्म लिया है। दया करके मुझे यह भूलने दो कि मेरे अंतर में धूल नही है। तुम्हारे नयन नत करो। अपने चरणों के स्पर्श से धूल को स्वर्गीय कर दो। तुम्हारे लिये मे ही धरती का प्रणाम हूँ।

पृ०६—तुम्हारे नेत्र से अलप दृष्टि निकलती है। मेरा सत्य रूप पहली बार सृष्टि किया है। तुम्हें शत बार प्रणाम। मैं तरुण अरुण की किरण हूँ, विमल ज्योति की रेख हूँ, नवीन श्यामल मेघ का प्रथम प्रसाद हूँ।

पृ०७—इस तरह बाहर से नहीं बुलाऊँगी। यदि अंतर से बुला सकूं तो ही बुलाऊँगी। दान क करने की व्यथा मेरे अंतर में बज रही है लेकिन इस दान को लेने वाला कौन है? इस लेन देन को कौन

घटाये। मेरी वेदना क्या उनकी वेदना से नहीं मिलेगी ? गंगा धार क्या काली यमुना से नहीं मिलेगी ?अपने से यह कौन सा सुर बज उठा है ! जाते वक्त आने का वचन दे गया है।

पृ० ६—में उन्हें ही जानती हूँ जो मुझे जानते हैं। मेरा उसी के दान पर अधिकार है जिसका अधिकार मेरे दान पर है। जिसने मुझे पहचाना है उसके और मेरे अंतर में एक ही रोशनी है। अपने मन के अंधेरे को जिन्होंने ढक लिया है में उन्हीं में खो गई हूँ। सोने का जादू दंड स्पर्श करते ही मेरे नयन खुल गये और उनका उज्ज्वल मुँह देखने के लिये दौड़ पड़े।

पृ० १०—धूल पर पड़े हुये म्लान कुसुम पर अपने चरणों का स्पर्श रखो। अपराध से भरी यह डलिया अपने हाथों से खाली करके असीम करुणा भर दो। मे तुच्छ हूँ और तुम उच्च हो। मेरे दोष को तुम्हारा पुण्य कलंक मुक्त करेगा।

पृ० १२—यदि समुद्र के तीर पर जाते हैं तो जाँय। हृदय में उनके लिये आसन बिछा कर रखूंगी। रास्ते की धूल को अश्रु से भिगो दूगीं। यदि शैल शिखर पर जाँय तो जाँय। मैं गिरि गुफा में छिप कर रहूँगी।

पृ० १४—हृदय का डमरू धीरे धीरे बज उठा। घन मेघ की भृकुटी कुटिल, कुंचित हो उठी। वन के वृक्ष चंचल हो उठे। मिलन स्वप्न का वह कौन अतिथि है रे ! घन घोर वर्षा से रात्रि चकित है। झींगुर ध्वनि से कानन कंपित है।

पृ० १५—दुःख से तुम्हारा दुःख मोचन करूँगी। अपनी मरण-व्यथा तुम्हारे चरणों में उपहार दूँगी।

पृ० १७—हे महा दुःख, हे रुद्र, हे भयंकर, हे शंकर, हे प्रलयंकर, अपनी जटा से अग्नि उद्गार करो। अपना पिनाक टंकरो।

पृ० १६—हे वंसुधरा, मैं तुम्हारी कन्या हूँ, फिर मेरा मानव जन्म क्यों वंचित है। तू पवित्र है, तुझे अपनी जन्म भूमि जान कर में धन्य

हूँ। वे तुम्हें तुच्छ समझते है। मैं तो तुम्हारे अति निकट हूँ। अपनी मोहनी शक्ति मुझे दो।

पृ०२०—मेरे रूद्ध मुकुलों का दल अंधकार में अमृत लिये हुये मेरे पास आओ। मेरी वीणा के तार में तुम संगीत के रूप में आओ। चिर रजनी का अवसान होकर नये अरुणोदय का आह्वाहन आये। तुम्हारी रश्मि से उषा को सिन्दूर पहनाऊँगी।

पृ०२१—रास्ते का शेष कहां है? अन्त में क्या है? इतनी कामना इतनी साधना कहाँ मिलती है? तरंग उठती है, कगार ढहते हैं। घना अन्धकार है। कौन से देश में पार है? आज मन में सोचती हूँ, मरीचिका के पीछे तृष्णा का अन्त नहीं है। मन में भय होता है। मेरी व्यथा निरुद्धेश में जा रही है।